पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान
(भावप्रकाश के विशेष संदर्भ में)

Pañchajñānendriya Roga Evaṃ Unakā Nidāna
(Bhāvaprakāsha Ke Visheṣa Sandarbha Meṅ)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
की एम॰फिल्॰ उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत

लघु शोध-प्रबन्ध

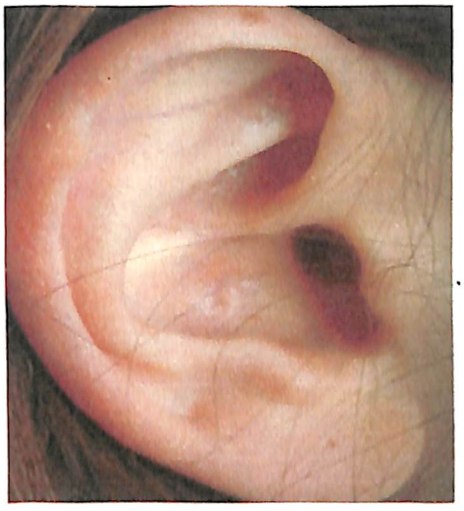
निर्देशक :
प्रोफेसर डॉ. जगीर सिंह
संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू, तवी-180006

शोधच्छात्रा :
शालिनी शर्मा

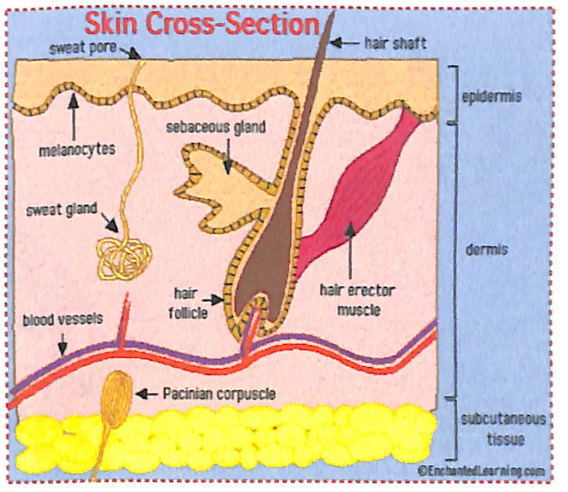
अगस्त 2010

IInd

पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान



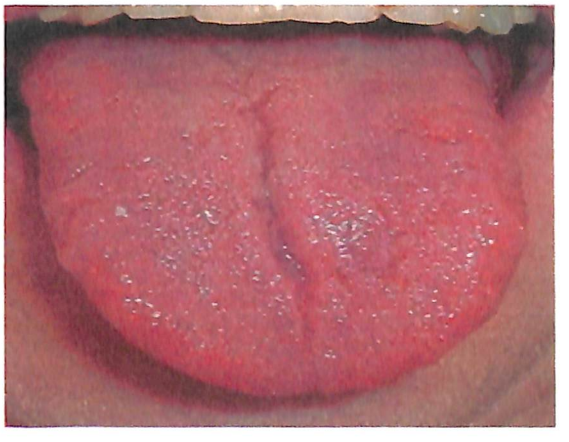
श्रोत्र



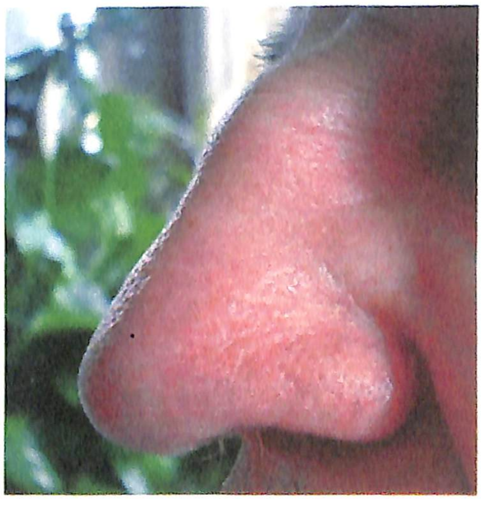
त्वक्



चक्षु



रसना



घ्राण

पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान

(भावप्रकाश के विशेष संदर्भ में)

Pañchajñānendriya Roga Evaṁ Unakā Nidāna

(Bhāvaprakāsha Ke Visheṣa Sandarbha Meṅ)

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

की एम॰फिल्॰ उपाधि प्राप्ति हेतु प्रस्तुत

लघु शोध–प्रबन्ध

निर्देशक :

प्रोफेसर डॉ. जगीर सिंह

संस्कृत विभाग,

जम्मू विश्वविद्यालय,

जम्मू, तवी–180006.

शोधच्छात्रा :

शालिनी शर्मा

अगस्त 2010

CERTIFICATE

It is certified that **Miss Shalini Sharma** has worked under my supervision and the work done by her is worthy of consideration for the award of Degree of Master of Philosophy in Sanskrit entitled –

Pañchajñānendriya Roga Evaṁ Unakā Nidāna
(Bhāvaprakāsha Ke Visheṣa Sandarbha Meṅ)

पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान
(भावप्रकाश के विशेष संदर्भ में)

It is further certified that –

(a) This dissertation is the original research work of the candidate herself.

(b) The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by statute of University of Jammu.

(c) The topic has been duly approved by the Research Committee of the Sanskrit Department, University of Jammu, Jammu.

(d) The candidate has put her attendance and attended International and National Seminars and Conferences in the Sanskrit Department under rule.

(e) The work and conduct of the candidate remained satisfactory during the research period.

Head
Department of Sanskrit
University of Jammu

(Prof. Purshotam Sharma)
Head of Department
P.G. Department of Sanskrit,
University of Jammu,
Jammu (J&K).

Professor
Department of Sanskrit
University of Jammu.

(Prof. (Dr.) Jagir Singh)
Supervisor,
P.G. Department of Sanskrit
University of Jammu,
Jammu (J&K).

Date: 05-08-2010

विषयानुक्रमणिका

CERTIFICATE

It is certified that **Miss Shalini Sharma** has worked under my supervision and the work done by her is worthy of consideration for the award of Degree of Master of Philosophy in Sanskrit entitled –

Pañchajñānendriya Roga Evaṁ Unakā Nidāna (Bhāvaprakāsha Ke Visheṣa Sandarbha Meṅ)

पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान (भावप्रकाश के विशेष संदर्भ में)

It is further certified that –

(a) This dissertation is the original research work of the candidate herself.

(b) The candidate has worked exactly in accordance for the time period, prescribed by statute of University of Jammu.

(c) The topic has been duly approved by the Research Committee of the Sanskrit Department, University of Jammu, Jammu.

(d) The candidate has put her attendance and attended International and National Seminars and Conferences in the Sanskrit Department under rule.

(e) The work and conduct of the candidate remained satisfactory during the research period.

Head, Department of Sanskrit, University of Jammu	Professor, Department of Sanskrit, University of Jammu.
(Prof. Purshotam Sharma)	(Prof. (Dr.) Jagir Singh)
Head of Department	Supervisor,
P.G. Department of Sanskrit,	P.G. Department of Sanskrit
University of Jammu,	University of Jammu,
Jammu (J&K).	Jammu (J&K).

Date: 05-08-2010

विषयानुक्रमणिका

संकेत-सूची

संकेत-सूची

1.	अभि॰ बू॰ द॰	अभिनव बूटीदर्पण (भाग 1–2)
2.	अ॰ सं॰	अष्टाङ्गसंग्रह
3.	अ॰ हृ॰	अष्टाङ्गहृदय
4.	आ॰ वै॰ इति॰	आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास
5.	आ॰ बृ॰ इति॰	आयुर्वेद का बृहत् इतिहास
6.	आ॰ द॰	आयुर्वेद दर्शन
7.	आ॰ प॰	आयुर्वेद परिचय
8.	औ॰ द॰	औषध दर्शन
9.	ग॰ नि॰	गदनिग्रह
10.	च॰ द॰	चक्रदत्त
11.	च॰ सं॰	चरकसंहिता
12.	च॰ सं॰	चरकसंहिता (पूर्व भाग)
13.	चि॰ च॰	चिकित्सा चन्द्रोदय (भाग–2)
14.	ने॰ र॰	नेत्ररक्षा
15.	ने॰ र॰ चि॰	नेत्ररोग चिकित्सा
16.	भा॰ प्र॰	भावप्रकाश (उत्तर भाग)
17.	भा॰ प्र॰	भावप्रकाश (पूर्व भाग)
18.	भा॰ प्र॰ नि॰	भावप्रकाश निघण्टु
19.	भै॰ र॰	भैषज्यरत्नावली

20.	म० नि०	माधवनिदान (उत्तर भाग)
21.	म० नि०	माधवनिदान (पूर्व भाग)
22.	म० श० र०	मानव शरीर की रचना
23.	यो० आ०	योग और आयुर्वेद
24.	यो० र०	योगरत्नाकर
25.	यो० वि०	योगविनिश्चर्य
26.	व० औ० च०	वनोषधि चन्द्रोदय
27.	शा० सं०	शार्ङ्गधरसंहिता
28.	सं० शा० इति०	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास
29.	सं० सा० इति०	संस्कृत साहित्य का इतिहास
30.	सु सं०	सुश्रुत संहिता
31.	हि० वि० को०	हिन्दी विश्वकोष (भाग 11)
32.	हि० वि० को०	हिन्दी विश्वकोष (भाग 19)

प्राक्कथन

प्राक्कथन

सर्वे भवन्तु सुखिनाः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्॥

अर्थात् संसार के सब प्राणी सुखपूर्वक रहें, सब निरोग रहें, सब मङ्गलता का दर्शन करें एवं कोई भी दुःखी न हो। ऐसी कामना करते हुए महर्षियों ने विविध प्रकार के शास्त्रों, ग्रन्थों, वेद, पुराण, ज्योतिष और आयुर्वेद आदि की रचना कर मानव जीवन को सुखमय बनाने का सम्भव प्रयास किया है। मानव जीवन अति दुर्लभ है। देवी-देवता भी इसकी चाहना करते हैं। मानव शरीर का बचे रहना आवश्यक ही नहीं है, अपितु स्वस्थ एवं क्रियाशील होना भी आवश्यक है। शरीर में यदि कोई रोग-दोष न हो, तो वह स्वस्थ एवं क्रियाशील बना रहता है। साथ ही आहार-विहारादि को संयमित रखकर तथा आयुर्वेद की चिकित्सा के नियमों का पालन कर दीर्घजीवी हो सकता है।

मेरा जन्म जम्मू में एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। बचपन से ही मुझे पढ़ने-लिखने का बहुत शौक रहा है। विशेषरूप से संस्कृत भाषा का अध्ययन करना मुझे बहुत अच्छा लगता है। मेरे माता-पिता मुझे बचपन से ही देववाणी संस्कृत में शिक्षा-ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित करते रहे और इस बात को मस्तिष्क में रखकर मेरी अभिरुचि भी संस्कृत विषय को लेने के लिए व्याकुल हो गई। बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैंने स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अनुसन्धान कार्य करने की अभिलाषा से एम.फिल्. में प्रवेश लिया। मेरी रुचि का ध्यान रखते हुए प्रो. जगीर सिंह जी ने मुझे 'आयुर्वेद' पर शोध करने का सुझाव दिया। यह विषय मुझे रुचिकर प्रतीत हुआ और 'पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान' (जिसमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) विषय चयन कर शोधकार्य प्रारम्भ कर दिया। इस लघु शोध-प्रबन्ध के कार्य को सुचारू एवं व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न करने के लिये इसको छः अध्यायों में इस प्रकार विभाजित किया गया है –

प्रथम अध्यय में 'आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान और भावप्रकाश के रचयिता भावमिश्र' का परिचय है।

द्वितीय अध्याय में 'श्रोत्र-रोग एवं निदान' का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में 'त्वक्-रोग एवं निदान' का निरूपण है।

चतुर्थ अध्याय में 'चक्षु-रोग एवं निदान' का चित्रण है।

पञ्चम अध्याय में 'रसना-रोग एवं निदान' का विवेचन है।

षष्ठ अध्याय में 'घ्राण-रोग एवं निदान' का उल्लेख किया गया है।

अन्त में प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में विवेचित तथ्यों के सार रूप में उपसंहार तथा तत्पश्चात् ग्रन्थ-सूची प्रदान की गई है।

प्रस्तुत शोध की पूर्णता के लिये मैं सर्वप्रथम पूज्य भगवान् श्री गणेश जी के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम करती हूँ, जिनकी अपार कृपा से मेरा शोध कार्य सम्पूर्ण हुआ। इस शोध कार्य को पूर्ण करने के लिये मैं अपने पिता जी श्री सुभाष चन्द्र शर्मा और माता जी श्रीमति वीना शर्मा की आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे पर्याप्त साधन उपलब्ध करवायें और शोध कार्य में मेरी हर प्रकार से सहायता की।

मेरा यह शोध कार्य संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद पर कार्यरत डॉ. जगीर सिंह के कुशल एवं आत्मीयता पूर्ण निर्देश से सम्पन्न हुआ है। उन्होंने मुझे हर सम्भव सहायता प्रदान की। समय-समय पर मुझे अच्छे सुझाव दिये। मेरी शोध में आने वाली कठिनाईयों को सुलझाने का प्रयास किया। यह शोध वास्तव में उन्हीं की अमूल्य सहायता का मधुर फल है।

संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. पुरुषोत्तम शर्मा जी की मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर मेरे शोध कार्य से सम्बन्धित उचित सुझाव दिए, उसके अतिरिक्त डॉ. रामबहादुर शुक्ला जी ने भी मेरी शोध कार्य में हर प्रकार से सहायता की, डॉ. रमणीका जलाली, डॉ. सुषमा गुप्ता और डॉ. शारदा गुप्ता, डॉ. केदारनाथ जी के प्रति मैं अपना कृतज्ञ भाव अर्पित करती हूँ।

संस्कृत विभाग की पुस्तकालयाध्यक्षा श्रीमति विजया कौल और अन्य कर्मचारियों का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने उचित पुस्तकें देकर सामग्री संकलन

में मेरी सहायता की।

'रघुनाथ पुस्तकालय' के अध्यक्ष डॉ. धनीराम शास्त्री जी और चन्दन जी तथा राधेश्याम जी का भी हार्दिक धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने उचित पुस्तकों के अध्ययन का पर्याप्त अवसर प्रदान किया।

जम्मू विश्वविद्यालय में स्थित 'धनवन्तरि पुस्तकालय' में मैंने अपने लघु शोध-प्रबन्ध का लेखन कार्य पूर्ण किया और वहाँ के कर्मचारियों का आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरा सहयोग दिया। मैं अपने वरिष्ठ शोधछात्रों और सहपाठियों का भी धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने उचित परामर्श के साथ-साथ सामग्री संकलन में मेरी सहायता की।

अन्त में मैं लघु शोध-प्रबन्ध के टंकन कार्य के लिये टंकनकर्ता श्री जे.के. कोहली जी एवं उनकी सहयोगिनी सुश्री मसरत बख्शी का धन्यवाद करती हूँ।

एक बार पुनः ईश्वर का धन्यवाद करते हुये प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध को जनहित में समर्पित करती हूँ।

विनीत

शोधछात्रा

शालिनी शर्मा

शालिनी शर्मा

अगस्त , 2010

प्रथम अध्याय

(क) आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान
(ख) 'भावमिश्र' का परिचय

प्रथम अध्याय

(क) आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान

आयु ही जीवन है, आयु का ज्ञान ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है।[1] 'चरक' ने आयुर्वेद को शाश्वत (सदा रहने वाला) कहा है क्योंकि जब से आयु (जीवन) का प्रारम्भ हुआ और जब से मनुष्य को ज्ञान हुआ, तभी से आयुर्वेद की सत्ता आरम्भ हुई अर्थात् आयुर्वेद का प्रचार हुआ। 'सुश्रुत' ने यहाँ तक कहा कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद की रचना सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व कर ली थी ताकि मानवजीवन उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके।[2]

मानवजीवन को सुखमय बनाने के लिए, स्वस्थ शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए तथा व्याधिग्रस्त (रोगों से युक्त) मानव शरीर को रोगों से छुटकारा पाने के लिए महर्षियों ने अपने कठिन परिश्रम, प्रतिभा, अनुभव तथा प्रयोगों के बल पर जिस शास्त्र को उत्पन्न किया; उसका नाम आयुर्वेद है। आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं —

(i) व्याधि (रोग) से युक्त व्यक्तियों का व्याधिपरिमोक्ष अर्थात् रोग से निवारण।

(ii) स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा अर्थात् रोग के दुष्प्रभाव से निवारण।

---

1. आ० द०, अ० 1, पृ० 8
2. आ० वै० इति०, अ० 1, पृ० 1

मनुष्य के जन्म के साथ-साथ रोग भी उत्पन्न हुआ और रोग के निवारण के लिए औषधियों द्वारा चिकित्सा भी आरम्भ हुई।[1] सर्वप्रथम ब्रह्मा जी ने आयुर्वेद नामक शास्त्र का ज्ञान दक्ष प्रजापति को दिया। उसके पश्चात् प्रजापति से देववैद्य अश्विनीकुमारों ने और अश्विनकुमारों से भगवान् इन्द्र ने समग्र रूप में ज्ञान प्राप्त किया। अतएवः ऋषियों के कहने से भरद्वाजमुनि आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन्द्र के पास गए।[2] इन्द्र ने आयुर्वेद शास्त्र विषय जो ज्ञान भारद्वाज को प्रदान किया। जिसमें स्वास्थ्य और रोगी सम्बन्धी हेतुज्ञान (Causes), लक्षण (Symptom) तथा औषधज्ञान (Treatment) की जानकारी विद्यमान थी। जो त्रिसूत्र, नित्य और पुण्यजनक के रूप में प्रसिद्ध है।[3]

तदनन्तर प्राणिमात्र पर स्नेहभाव एवं उनके कल्याण की इच्छा रखने वाले भरद्वाज के शिष्य पुनर्वसु आत्रेय ने सुखी जीवन की इच्छा करते हुए, जनकल्याण के लिए पुण्यजनक आयुर्वेद का उपदेश अपने छः शिष्यों को दिया। उन छः शिष्यों के नाम हैं :-

1. अग्निवेश, 2. भेल, 3. जूतकर्ण, 4. पराशर, 5. हारीत, 6. क्षारपाणि।

---

1. सं० शा० इति०, प्र० परि०, पृ० 1-2
2. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
   जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः॥
   अश्विभ्यां भगवांश्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्।
   ऋषिप्रोक्तों भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागतम्॥
   —च० सं०, अ० 1, श्लो० 4-5
3. हेतुलिङ्गौषधनानं स्वस्थातुरपरायणम्।
   त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥
   —च० सं०, अ० 1, श्लो० 23

इन छः शिष्यों में से अग्निवेश की बुद्धि सर्वोत्कृष्ट थी। इसलिए उसने सबसे प्रथम आयुर्वेद के ग्रन्थ की रचना की। अतः आयुर्वेद के जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।[1]

जो मनुष्य आयुर्वेद का अध्ययन कर चिकित्सा करता है, वह पुण्य का भागी होता है तथा जिस प्रकार मनुष्य आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करके दूसरों को आरोग्य प्रदान करता है, उसी प्रकार स्वयं निरोग रहता हुआ, चतुर्विध पुरुषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त करता है।[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन्द्र तक आयुर्वेद के आचार्य स्वयं देवता थे। इन्द्र से ही यह ज्ञान महर्षियों के माध्यम से इस भूतल (धरती) पर आया। परम्परा की विभिन्नता होने के कारण भी प्रत्येक परम्परा के आचार्य अपने को इन्द्र का साक्षात् शिष्य मानते हैं।[3]

आयुर्वेद के आठ अंग हैं :-

(1) कायचिकित्सा (2) बालचिकित्सा (3) ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या) (4)

---

1. ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम्।
दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः॥
अग्निवेशश्च भेडश्च जूतकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासान्नोपदेशान्तर मुनेः।
तन्त्रस्य कर्त्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्॥
—च० सं० पू० भ०, अ० 1, श्लो० 26, 30, 31
2. धर्मार्थकाममोक्षणमारोन्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य तु॥
—च० सं० पू० भ०, अ० 1०, श्लो०
3. सं० शा० इति०, प्र० परि०, पृ० 4

ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा (शालाक्य चिकित्सा) (5) शल्यचिकित्सा (6) दंष्ट्राचिकित्सा (विष चिकित्सा) (7) जराचिकित्सा (रसायन) (8) वृषचिकित्सा (वाजीकरण)[1]। आयुर्वेद के ग्रन्थों में यह समस्त नाम कुछ हेर-फेर एवं परिवर्तन से मिलते हैं।[2]

आयुर्वेद का प्रभाव अन्य चिकित्सा पद्धतियों पर भी पड़ा :

आयुर्वेद ने जीवनोपयोगी शास्त्र होने के नाते उचित लोकप्रियता और प्रसिद्धि भी प्राप्त की। भारतवर्ष में वैदिक युग से आयुर्वेद की परम्परा आरम्भ होती है। आयुर्वेद के रोगों तथा औषधियों का ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में संकेतमात्र ही मिलता है, परन्तु अथर्ववेद में शरीर विज्ञान के साथ-साथ अनेक प्रकार के रोगों को दूर करने की चिकित्सा का वर्णन बड़े विस्तार से तथा वैशद्य (निपुणता) के साथ किया गया है।[3] सांख्य एवं योग प्रभति दर्शन के सम्प्रदायों से आयुर्वेद का बौद्धिक पक्ष प्रभावित है। इसके साथ ही वेदान्तदर्शन ने भी आयुर्वेद को अध्यात्म बल दिया है।[4] आयुर्वेद का प्रभाव भारत देश के पड़ोसी देशों की चिकित्सा पद्धतियों पर भी विशेष रूप से पड़ा है। आठवीं तथा नौवीं शताब्दी के आसपास अनेक वैद्यक ग्रन्थों का तिब्बत भाषा में अनुवाद हुआ, जिससे तिब्बतीय-चिकित्सा के आधारभूत ग्रन्थ संस्कृत के ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय चिकित्सा तथा यूनानी

1. कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्।
   अष्टावङ्गानि तस्यादुश्चिकित्सा येषु संश्रिता॥
   —अ० हृ० सू० स्०, अ० 1, श्लो० 5
2. सं० सा० इति०, पृ० 704
3. सं० शा० इति०, प्र० परि० पृ० 1-2
4. सं० आ० इति०, पृ० 705

चिकित्सा के साम्य और वैषम्य का पर्याप्त विवेचन किया। अतः हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद का प्रभाव भारत पर ही नहीं अन्य देशों पर भी पड़ा और साथ ही इसका प्रभाव विभिन्न-विभिन्न दर्शनों पर भी पड़ा।[1]

1. सं॰ शा॰ इति॰ प्र॰ परि॰ पृ॰ 40

(ख) 'भावमिश्र' का परिचय

"भावप्रकाश" के रचयिता का नाम 'भावमिश्र' है। इनका ग्रन्थ 'भावप्रकाश' विस्तृत तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। 'भावप्रकाश' के अध्ययन से पता चलता है कि उनके पिता का नाम लटकन (मिश्र) था। 'मिश्र' उपाधि और 'विप्र', 'भूमिदेव' आदि शब्दों के विशेष प्रयोग होने से उनका ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। आयुर्वेदीय इतिहास में 'भावमिश्र' मध्यकाल तथा आधुनिक काल की देहली पर ठीक उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार वाग्भट प्राचीन तथा मध्यकाल की सीमा रेखा पर अवस्थित हैं। "भावप्रकाश" लघुत्रयी का अन्तिम तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो शताब्दियों से वैद्य समुदाय में लोकप्रिय रहा है।

जन्म स्थान :

'भावमिश्र' ने अपने जन्म स्थान एवं निवास स्थान का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। कुछ विद्वान् उन्हें वाराणसी या कान्यकुब्ज का मानते हैं, किन्तु इन्होंने कहीं भी इसकी पुष्टि स्पष्ट नहीं की। 'भावमिश्र' ने एक पद्य में विष्णुपद का उल्लेख किया है, जिससे विष्णुदतीर्थ से उनका निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। विष्णुपद का मन्दिर गया में है। 'संयाव' पक्वान्नविशेष के लिए उन्होंने 'पेरकिया इति लोके' लिखा है। यह शब्द मगध में ही प्रचलित है, जबकि उत्तरप्रदेश में इसके बदले 'गुझिया' शब्द व्यवहृत है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह मगध में 'गया' या उसके निकटवर्ती स्थान के निवासी थे।

धर्म :

'भावमिश्र' शैव थे, जिसका उन्होंने अनेक स्थलों पर संकेत किया है। प्रारम्भिक पद्यों में गणेश की वन्दना की गई है तथा विष्णु का उल्लेख 'श्रीपति' और 'मधुसूदन' शब्दों से हुआ है। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और हनुमान का भी उल्लेख है।

काल :

'भावमिश्र' ने कहीं भी अपनी रचना में अपने समय के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया। इसलिए उनकी स्थिति को जानने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि उन्होंने अपनी रचना में जिन-जिन ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। इससे उनके समय को अनुमानित करने में सुविधा रहेगी।

'भावप्रकाश' में जिन ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के नाम मिलते हैं, वे निम्नलिखित हैं :-

(1) चरक, (2) सुश्रुत, (3) अष्टाङ्गसंग्रह, (4) अष्टाङ्गहृदय, (5) रुग्विनिश्चय, (6) वृन्दकृतसिद्धयोग, (7) चिकित्साकलिका, (8) चक्रदत्त, (9) हारीत, (10) जेज्जट, (11) रत्नमाला, (12) अमरकोश, (13) धन्वन्तरिनिघण्टु, (14) रसेन्द्रचिन्तामणि, (15) रसेन्द्रसारसंग्रह, (16) मदनपालनिघण्टु, (17) शार्ङ्गधर, (18) रसेन्द्रमंगल, (19) रसरत्नाकर, (20) रसरत्नसमुच्चय,(21) रसरत्नप्रदीप, (22) त्रिशती, (23) चन्द्रमौलि, (24) वराहमिहिर, (25) राजनिघण्टु, (26) वृद्धसुश्रुत, (27) आत्रेय, (28) धन्वन्तरि, (29) खरनाद,

(30) भेड, (31) अग्निवेश, (32) रसहृदयतंत्र, (33) रसामृत, (34) तन्त्रान्तर, (35) जूतकर्ण, (36) पराशर, (37) क्षारपाणि, (38) दिवोदास, (39) वृद्धवाग्भट, (40) वाग्भट, (41) वैदेह, (42) वंगसेन, (43) वृन्दटीका, (44) गदाधर, (45) दृढ़बल, (46) रस प्रदीप, (47) द्रव्यगुण (ग्रन्थ), (48) कश्यप, (49) गुणरत्नमाला, (50) काशीखण्ड, (51) विष्णुधर्मोत्तर।

'भावमिश्र' ने आयुर्वेद के विविध क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने परम्परागत ज्ञान को तत्कालीन ज्ञान तथा अपने पाण्डिय एवं चिकित्सकीय अनुभवों से परिष्कृत एवं विकसित किया।[1] मुगल ग्रन्थकारों में भावप्रकाश की गणना की जा सकती है। इनका ग्रन्थ भावप्रकाश विस्तृत तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसमें गर्मी सुजाक रोग का उल्लेख फिरङ्ग रोग के नाम से है, जो यूरोपीय लोगों के सम्पर्क में आने से भारत में भी प्रथम बार आया। इसकी दवा कबाबचीनी या शीतलचीनी है। भावप्रकाश ग्रन्थ में शार्ङ्गधरसंहिता के योग मिलते हैं।[2]

'भावमिश्र जी' ने शार्ङ्गधरसंहिता, जो 13वीं शती की है, इसका विशेष रूप से अनुसरण किया है। इसी प्रकार निघण्टु भाग में मदनपालनिघण्टु का पूरा उपयोग किया है। अहिफेन, भंगा, पारसीकयवानी आदि मध्यकालीन औषध द्रव्य संभवतः वहीं से लिए गए हैं। मदनपालननिघण्टु की रचना 1347 ई. में पूरी हुई थी। दूसरी ओर 17वीं शती के ग्रन्थ योगरत्नाकर, योगतरंगिणी एवं ग्रन्थकार।

1. आ० वै० इति०, पृ० 206
2. सं० शा० इति०, अ० प्र० परि०, पृ० 37

लोलिम्बराज ने भावप्रकाश को उद्धृत किया है। भावप्रकाश में पश्चिम देश, परद्वीप शब्द का प्रयोग किया है। मुगलों के लिए 'मुद्गल' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे उनकी स्थिति मुगल काल में सूचित होती है।

'भावप्रकाश' की प्राचीनतम पाण्डुलिपि जम्मू पुस्तकालय में संवत् 1721 की है। इन सब तथ्यों को देखते हुए 'भावमिश्र' का काल 15वीं और 17वीं शती के बीच अर्थात् 16वीं शती में सिद्ध होता है। आयुर्वेद में 'भावमिश्र' का स्थान वही है, जो व्याकरण में पण्डितजगन्नाथ का है।[1]

रचना :

'भावमिश्र' द्वारा रचित ग्रन्थ "भावप्रकाश" के तीन खण्ड हैं —

(1) पूर्वखण्ड, (2) मध्यखण्ड, (3) उत्तरखण्ड।

1. पूर्वखण्ड में आयुर्वेद की उत्पत्ति, गर्भरचना, शरीर विज्ञान, कौमारभृत्य तथा निघण्टु का वर्णन है।
2. मध्यखण्ड में निदान और चिकित्सा की विवेचना है।
3. उत्तरखण्ड में वाजीकरण[2] और रसायन[3] दिए गए हैं।

"भावप्रकाश" का निघण्टुवाला अध्याय बहुत ही विस्तृत व्यापक तथा विशेष उपयोगी है। इस प्रकार 'भावमिश्र' ने आयुर्वेद के अनेक क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।[4] इनकी एक अन्य रचना गुणरत्नमाला है, जिस पर

1. आ॰ वै॰ इति॰, पृ॰ 206
2. सं॰ शा॰ इति॰, अ॰ प्र॰ परि॰, पृ॰ 37
3. आ॰ वै॰ इति॰, पृ॰ 206
4. सं॰ शा॰ इति॰, अ॰ प्र॰ परि॰, पृ॰ 37

संभवतः भावप्रकाश का निघण्टु वाला अध्याय आधारित है। इस प्रकार निःसंदेह हम कह सकते हैं कि 'भावमिश्र' ने आयुर्वेद के विविध क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।[1]

1. आ॰ वै॰ इति॰, पृ॰ 206

द्वितीय अध्याय

श्रोत्ररोग एवं निदान

द्वितीय अध्याय

श्रोत्ररोग एवं निदान

(क) शरीर में श्रोत्र का स्थान :

जिस इन्द्रिय से हम सुनते हैं अर्थात् जिसके द्वारा हम को शब्द या ध्वनि का ज्ञान होता है, उसे कर्ण इन्द्रिय कहते हैं इसके तीन भाग होते हैं। इनमें से केवल एक ही भाग बाहर से दिखाई देता है इसी भाग को साधारण बोल–चाल में कर्ण अथवा श्रवणेन्द्रिय कहते हैं। शेष दो भाग शंखास्थि के भीतर रहते हैं और बाहर सें दिखाई नहीं देते हैं।

श्रोत्र के तीन भाग :–

बाह्य कर्ण (External ear)

मध्य कर्ण (Middle ear)

अन्तःस्थ कर्ण (Internal ear)

इनमें मध्यकर्ण और अन्तः स्थ कर्ण शंखास्थि के भीतर रहते हैं।

बाह्य कर्ण के दो भाग होते हैं:–

(क) पहला वह भाग है, जिसमें छिद्र कराकर स्त्रियाँ बालियाँ पहनती हैं किन्तु आजकल पहनते हैं, यह भाग कर्ण शष्कुली (Pinna) कहलाता है।

(ख) दूसरा वह भाग है, जिसमें कान की नली जो कर्ण शष्कुली के छिद्र से मध्य कर्ण की बाहरी दीवार तक रहती है, इसको कर्णाञ्जली (External acoustic meatus) कहते हैं।

कर्ण शष्कुलीः– कर्ण शष्कुली का आकार सीपी (शुक्तिका) जैसा होता है इसमें बड़ा भेद यह है कि इसमें कई उभार और दबाव होते हैं। इन सबके भिन्न–भिन्न नाम हैं। कर्ण शष्कुली का नीचेवाला अंश मोटा और मुलायम होता है। इसको लौर या कर्ण पाली कहते है। कर्ण पाली को छोड़कर कर्ण शष्कुली के शेष भाग में कारटिलेज होता है जिसके दोनों पृष्ठों पर त्वचा रहती हैं। कारटिलेज कई जगह मुड़ा रहता है। कर्ण पाली में कारटिलेज नहीं होता है, इसमें सौत्रिक तन्तु (Fibrous tissue) और ज़रा–सी वसा (Fat) रहती है।

कर्ण शष्कुली के बीच में सीपी की भाँति एक गढ़ा होता है। इस गढ़े की तली से कान की नली (कर्णाञ्जली) का आरम्भ होता है। इस गढ़े को कर्ण कुहर कहते हैं।

कर्णाञ्जली :– यह नली लगभग एक इंच लम्बी होती है। नली के बाहरी एक तिहाई (1/3) भाग की दीवार कारटिलेज से बनती है, शेष भाग अस्थिकृत है। समस्त नली में त्वचा लगी रहती है, जिसमें बहुत–सी छोटी–छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं। इन ग्रन्थियों में कर्ण गूथ होता है, जिसे हम साधारण बोलचाल में कान का मैल कहते हैं। इसलिए इसका नाम कर्ण गूथ है। साधारणतः कर्ण गूथ बहुत थोड़ा बनता है और पतला होता है। कभी–कभी वह अधिक बनने लगता है और नली में इक्ट्ठा हो जाता है। कान में पानी लगने से जो कर्ण शूल हो जाया करता है, उसका एक कारण इस मैल का खूब फूल जाना है।

इसके अतिरिक्त कर्णपटह :– यहि कर्णाञ्जली को कर्णदर्शक यन्त्र से

यथाविधि देखें तो जहाँ उसका अन्त होता है, वहाँ एक धूसर खेत चमकदार परदा लगा हुआ दिखाई देगा। इसं परदे को कर्णपटह (या काण का ढ़ोल) कहते हैं। मनुष्य कानों से मैल निकालने के लिए कर्णञ्जली को सींक या किसी और पतली या नोकीली वस्तु से कुरेदा करते है, इस क्रिया से वे कभी कभी कर्णपटह को हानि पहुँचा लेते हैं। कनपुटी पर ज़ोर से थप्पड़ लगने से या सिर के शङ्ख देश में किसी और प्रकार अधिक चोट लगने (विशेष कर बालको में) कभी कभी यह परदा फट जाया करता है और कान से रक्त बहने लगता है।

मध्य कर्ण :-

मध्य कर्ण में तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ रहती हैं। ये अस्थियाँ आपस में बंधनों द्वारा बँधी रहती हैं और इनके बीच में संधियाँ होती है।

(क) पहली अस्थि सबसे बाहर अर्थात् कर्णपटह (Tympanic membrane) के पास जो अस्थि है, उसको मुद्‌गर कहते हैं। इसकी शकल कुछ-कुछ मुद्‌गर अथवा हथौड़े के सदृश होती है।

(ख) दूसरी अर्थात् बीच की अस्थि को नेहाई या शूर्मिका कहते हैं।

(ग) तीसरी अस्थि अन्तःस्थ कर्ण के पास होती है। इसका नाम रकाब है।

तीनों अस्थियों के बीच में सन्धियाँ होती हैं, जिनके कारण वे एक दूसरे की सहायता से गति कर सकती हैं। मुदगरास्थि कर्ण पटह से लगी रहती है और रकाब अन्तःस्थ कर्ण के एक छिद्र से लगी होती है। इस कारण जब कर्ण

पटह (Tympanic membrane) हिलता है तो ये सब अस्थियाँ हिलती हैं और इस गति का असर अन्तःस्थ कर्ण पर भी पड़ता है। जब तक ये अस्थियाँ अच्छी तरह गति करती करती हैं तभी तक हम अच्छी तरह सुन सकते हैं। जब मध्यकर्ण का प्रदाह होता है, तो इन अस्थियों की सन्धियाँ खराब हो जाती हैं। कभी-कभी अचेष्ट बन जाती हैं, तब श्रवण शक्ति में फर्क आ जाता है। वृद्धावस्था में ये संधियाँ बिगड़ जाया करती हैं।

अन्तः स्थ कर्ण :- इसकी बनावट बड़ी पेचीदा और विचित्र है, इसी कारण इसको गहन भी कह देते हैं।

अन्तः स्थः- कर्ण के तीन भाग हैं। मध्य कर्ण के सम्मुख एक कोठरी होती है, यह बीच का भाग है। इस कोठरी के पिछले भाग से तीन मुड़ी हुई नालियाँ जुड़ी रहती है, इनसे अन्तःस्थ कर्ण का पिछला भाग बनता है। कोठरी के सामने घड़ी की कमानी की तरह एक मुड़ा हुआ भाग होता हैं इसकी शकल कोकला नामक शंख से बहुत कुछ मिलती है, इस कारण इसको कोकला कहते हैं।

इस तरह से अन्तःस्थ कर्ण के ये तीन भाग हुएः-

(क) तीन मुड़ी नालियाँ या अर्धचक्राकार नालियाँ

(ख) बीच की कोठरी या कर्ण कुटी।

(ग) कोकला।

ये तीनों अस्थिकृत हैं। इन तीनों की दीवारें शंखास्थि से ही बनती हैं।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शंखास्थि के भीतर कोई खोखली जगह है, जिसमें ये तीनों अस्थियाँ होती हैं।

अस्थिकृत अन्तःस्थ कर्ण के तीनों भागों के भीतर झिल्लीकृत अन्तःस्थ कर्ण रहता है, अस्थिकृत नालियों के भीतर झिल्लीकृत नालियाँ रहती हैं, अस्थिकृत कुटी में झिल्लीकृत कोष्ठ रहते हैं, अस्थिकृत कोकले में झिल्लीकृत कोकला रहता है। अस्थि के खोल से उसके भीतर रहने वाली चीज़ों की रक्षा होती है।

इस प्रकार अन्तःस्थ कर्ण के दो भाग होते है:-

(क) अस्थिकृत अन्तःस्थ कर्ण।

(ख) झिल्लीकृत अन्तःस्थ कर्ण।

इन नाालियों और थैलियों के भीतर एक जलीय तरल रहता है, जिसका संगठन लसीका (Lymph) जैसा होता है। जब हम चलते फिरते हैं या कूदते हैं या छलांग मारते हैं या करवट बदलते हैं तो यह तरल भी हिलता और लोमश सेलों (Haircell) के बालों से टकराता है। इस तरल के दबाव से जो प्रभाव इन लोमेश सेलों पर पड़ता है उसकी सूचना नाडी सूत्रों द्वारा लघु-मस्तिष्क (cerebellum) को मिलती है इन नालियों द्वारा लघु-मस्तिष्क को इस बात की सूचना मिलती रहती है कि हमारे शरीर की क्या स्थिति है, हम किस दशा में जा रहें हैं अर्थात् हम खड़े है या चक्कर लगा रहे हैं या उलटे लटके हैं आदि? इस प्रकार की बहुत सी सूचनाएँ मिलती हैं इस सूचना में लघु-मस्तिष्क

को शरीर में साम्यावस्था रखने में सहायता मिलती है। जब नालियों में रोग हो जाते हैं तो शरीर की साम्यावस्था का संतुलन बिगड़ जाता है।[1]

(ख) श्रोत्र रोग के कारण :- जलवायु के विरूद्ध अन्नपान करना, मूत्रादि के वेगों को रोकना, अधिक बोलना, दन्तधावन, सिर का प्रक्षालन अधिक व्यायाम करना, कफवर्द्धक एवं गुरू, द्रव्यों का सेवन, तिनके आदि से कान को खुजलाना तथा हिम (बर्फ़) के सेवन, से कर्णरोग होता है।[2]

(ग) श्रोत्ररोग के प्रकार :-'भावप्रकाश' के अनुसार कर्ण में 28 प्रकार के रोग होते हैं और इनके नाम इस प्रकार है:-

(1) कर्णशूल

(2) कर्णनाद (सनसनाहट)

(3) बाधिर्य

(4) क्ष्वेड

(5) कर्णस्राव

(6) कर्णकण्डू

(7) कर्णगूथ

(8) प्रतिनाह

---

1. ह० श० र०, अ० 26, पृ० 721
2. विरुद्धान्यन्नपानानि वेगरोधं प्रजल्पनम्।
दन्तकाष्ठं शिरः स्ननं व्ययामं श्लेष्मलं गुरु॥
कण्डूयनं तुषारञ्च कर्णरोगी परिव्यजेत्॥
—भै० र०, अ० 63, श्लो० 85

(9) कृमिकर्ण

(10–11) दो प्रकार के विद्रधि (क्षत जन्य और वातादिदोषजन्य)

(12) कर्णपाक

(13) पूतिकर्ण

(14–17) चार प्रकार के कर्णार्श (वात, पित्त, कफ और रक्त)

(18–24) सात प्रकार के अर्बुद (वात, पित्त, कफ, रक्त, मांसज, मेदज और शिराजन्य

(25–28) चार प्रकार के कर्णशोथ (वात, पित्त, कफ और रक्त)[1]

'सुश्रुतसंहिता' में भी भावप्रकाश के अनुसार अट्ठाईस (28) कर्णगत रोग बताये गये हैं।[2]

(घ) श्रोत्ररोग के लक्षण/चिकित्सा :-

(i) श्रोत्ररोग के लक्षण:-

(1) कर्णशूल :– 'भावप्रकाश' के अनुसार कर्णशूल रोग के लक्षण में मूर्च्छा

1. कर्णशूलः कर्णनादो बाधिर्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णगूथस्तथैव च॥
प्रतिनाहो जन्तुकर्णो विद्रधिद्विविधस्तथा।
कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विध॥
तथाऽर्बुदं स्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 1–3

2. कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णवर्चस्तथैव च॥
कृमिकर्णप्रतीनाहौ विद्रधिर्द्विविधस्तथा।
कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधम्॥
कर्णार्बुद सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीतिताः॥
—सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 20, श्लो॰ 3–5

दाह, बुखार कास, श्वास और उल्टी–ये सब उपद्रव कर्णशूल रोगी को होते हैं।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित कर्णशूल के लक्षण चार प्रकार के हैः– वातज कर्णशूल, पित्तज कर्णशूल, कफज कर्णशूल और रक्तज कर्णशूल। इसमें 'वातज कर्णशूल' के लक्षण में प्रतिश्याय, जलक्रीड़ा, कान का खुजाना शब्द के मिथ्यायोग तथा अन्य वायु के प्रकोपक कारणों से कुपित वायु श्रोत (शब्द) वाही सिराओं में पहुँचकर कर्ण में वेगवान् शूल को अनिच्छा करती रहती हैं। बिना कारण के ही कान खुला तथा थोड़ी देर के लिए खुला और थोड़ी देर में बन्द के समान हो जाता है।[2]

'पित्तज कर्णशूल' के लक्षण में अपने कारणों से दूषित हुआ पित्त कान में शूल, दाह, संताप, शीत की इच्छा और ज्वर को उत्पन्न करता है। यह कर्णशूल जल्दी पकता है, पकने पर थोड़ी–सी पीली लसीका बहती है। यह लसीका जहाँ- जहाँ छूती वहाँ- वहाँ पाक उत्पन्न हो जाती हैं।

'कफज कर्णशूल' के लक्षण में कफ के कारण सिर, हनु और ग्रीवा में भारीपन होता है। हल्का–सा दर्द, कण्डू, उष्ण की चाह होती है, इसके साथ

---

1. मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासः श्वासोऽथं वमथुस्तथा।
उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 64, श्लो० 5

2. प्रतिश्यायजलक्रीडाकर्णकण्डूयनैर्मरूत्।
मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोऽत्यैश्च कोपनैः॥
प्राप्य श्रोत्रसिराः कुर्याच्छूलं स्रोतसि वेगवत्।
अर्धावभेदकं स्तम्भ शिशिरानभिनन्दनम्॥
चिराच्च पाकं पक्वं तु लसीकामल्पशः स्रवेत्।
श्रोत्रं शून्यमकस्माच्च स्यात्सञ्चरविचारवत्॥
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 17, श्लो० 1–3

पकने पर सफेद और गाढ़ा स्राव होता है।

'रक्त कर्णशूल' के लक्षण में चोट आदि के कारणों से दूषित रक्त कान में उद्र उत्पन्न करता है। इसमें पित्तज शूल के समान लक्षण होते हैं अथवा इससे कुछ अधिक लक्षण भी होते हैं।[1]

2. कर्णनाद :- 'भावप्रकाश' के अनुसार कर्णनाद रोग के लक्षण में कान की शब्दवाहिनी नाड़ी में स्थित वायु के प्रकुपित होने से भेरी (नगाड़ा), शंख, मृदङ्ग आदि विविध प्रकार के शब्द कानों में सुनाई देते हैं। इस रोग को कर्णनाद रोग कहते हैं।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित कर्णनाद रोग के लक्षण में शब्दवाहिनी सिराओं में वायु के स्थित होने पर मनुष्य बिना कारण के बार-बार भिन्न शब्दों को सुनता है।[3]

'माधवनिदान' में कर्णनाद रोग का लक्षण भावप्रकाश के कर्णाद रोग के समान बताया गया है।[4]

1. शूलं पित्तात् सदाहोषाशीतेच्छाश्वयथुज्वम्।
आशुपाकं प्रपक्वं च सपीतलसिकास्रुति॥
सा लसीका स्पृशेधद्यत्तत्पाकमुपैति च।
कफाच्छिरोहनुग्रीवागौरवं मन्दता रूजः॥
कण्डूः श्वयथुरूष्णेच्छा पाकाच्छ्वेतघनस्रुतिः।
करोति श्रवणे शूलमभिघातदिदूषितम्॥
रक्तं पित्तसमानार्ति किञ्चद्वाऽधिकलक्षणम्।
शूलं समुदितैर्दोषैः सशोफज्वरतीव्ररूक्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 17, श्लो॰ 4-7
2. कर्णश्रोत्रस्थिते वाते शृणोति विविधान्स्वनान्।
भेरीमृदङ्गशङ्गानां कर्णनादः स उच्यते॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 6
3. शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने गुहुः।
नादानकस्माद्विविधान् कर्णनादं वदन्ति तम्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 17, श्लो॰ 9
4. कर्णस्रोतः स्थिते वातेशृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरांमृदङ्गशङ्गानां कर्णनादः स उच्यते॥
—म॰ नि॰, अ॰ 57, श्लो॰ 2

3. बाधिर्य :- 'भावप्रकाश' में कथित बाधिर्य कर्ण रोग के लक्षण में वायु शब्दवाहिनी नाड़ी को अकेले अथवा कफ के साथ प्रकुपित होकर घेर लेती है, तो 'बाधिर्य' (बहरापन) उत्पन्न होता है।

बालक और वृद्ध को उत्पन्न हुआ बाधिर्य (बहरापन) अथवा बहुत दिनों का जो बाधिर्य होता है, उसकी चिकित्सा छोड़ देनी चहिए क्योंकि वह असाध्य रोग है।[1]

'आष्टाङ्गहृदय' के अनुसार कफ से मिश्रित हुई वायु अथवा उपेक्षा किया गया कर्णनाद रोग, कठिनाई से ऊँचा सुनना उत्पन्न करता है और फिर ऊँचा सुनने वाला रोग बहरेपन में बदल जाता है।[2]

'माधवनिदान' में वर्णित बाधिर्य रोग के लक्षण में केवल वायु अथवा श्लेष्मान्वित वायु शब्दवाहिनी स्रोत को रोक लेती है, तो बहरापन हो जात है।[3]

4. क्ष्वेड :- 'भावप्रकाश' के अनुसार कानों में पित्तादि दोषों से युक्त प्रकुपित वायु से कानों में बासुरी की आवाज़ जैसे शब्द उत्पन्न होते हैं; तो उसे कर्णक्ष्वेड रोग कहते हैं।

---

1. यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आधृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥
बाधिर्यं बालवृद्धोत्यं चिरोत्थञ्च विवर्जयेत्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 7, 8

2. श्लेष्मणाऽनुगतो वायुर्नादो वा समुपेक्षितः।
उच्चैः कृच्छ्राच्छ्रुतिं कुर्याद्बधिरत्वं क्रमेण च॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 17, श्लो॰ 10

3. यदा शब्दवहं वयुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥
—म॰ नि॰, अ॰ 57, श्लो॰ 3

कर्णनाद और कर्णक्ष्वेड में भेद केवल वातजन्य होता है। कर्णनाद केवल वातजन्य युक्त वायु से उत्पन्न होता है, किन्तु कर्णक्ष्वेड पित्तादि- युक्त वायु से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कर्णक्ष्वेड में केवल बाँसुरी की तरह आवाज़ सुनायी देती है।[1]

'माधवनिदान' में वर्णित कर्णक्ष्वेड रोग के लक्षण में पित्तादि से युक्त वायु कानों में बाँस जैसी आवाज़ करती है।[2]

(5) कर्णस्राव :- ' भावप्रकाश में कर्णस्राव रोग के लक्षण इस प्रकार हैं- सिर में चोट लगने से जल में डूबने या डूबकर स्नान करने से, कान के बल गिरने से या कान में फोड़े होने से वायु प्रकुपित होकर कान में पाक उत्पन्न करती है अथवा कभी-कभी कानों में पानी की तरह कर्ण स्राव रोग से तरल द्रव बहता है।[3]

'माधवनिदान में भावप्रकाश के समान कर्णस्राव रोग के लक्षण बताये गये है जिसका वर्णन किया जा चुका है।[4]

---

1. वायुः पितादिभिर्युक्तो वेणुघोषसमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 9

2. वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते॥
—म॰ नि॰, अ॰ 47, श्लो॰ 4

3. शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपातादथवाऽपि विद्रधे।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणेऽतिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्त्तितः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 10

4. शिरोभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रथेः।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः॥
—म॰ नि॰, अ॰ 47, श्लो॰ 5

(6) कर्णकण्डू :– 'भावप्रकाश' के अनुसार कफयुक्त वायु कान में खुजली पैदा करती है, उस रोग को कर्णकण्डू रोग कहते हैं।[1]

'माधवनिदान' में वर्णित इस रोग के लक्षण में कफ से मिली हुई वायु कानों में खुजली उत्पन्न कर देती है, उस रोग का कर्णकण्डू कहा गया है।[2]

(7) कर्णगूथ :– ' भावप्रकाश' में कर्णगूथ रोग के लक्षण में पित्त की गर्मी से कान की श्लेष्मा सूख जाती है, जिससे कानों में मैल उत्पन्न ही जाती है।[3]

'माधवनिदान' के अनुसार इस रोग के लक्षण में पित्त नामक दोष की गर्मी से सूखा हुआ कफ कर्णगूथ नामक रोग को उत्पन्न करता है।[4]

(8) प्रतिनाह :– 'भावप्रकाशं' के अनुसार प्रतिनाह नामक रोग में कर्णगूथ (मैल) पिघकर पतली हो जाती है तो नाक और मुख में आती है, इसी रोग को कर्ण प्रतिनाह रोग कहते हैं। इस रोग में अर्द्धावभेदक (आधे सिर में पीड़ा) नामक शिरोरोग उत्पन्न हो जाता है।[5]

---

1. मारूतः कफसंयुक्तः कर्णे कण्डूं करोति हि॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 11
2. मारूतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च।
   —म॰ नि॰, अ॰ 47, श्लो॰ 6
3. पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरूते कर्णगूथकम्॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 12
4. पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरूते कर्णगूथकम्॥
   —म॰ नि॰, अ॰ 47, श्लो॰ 6
5. स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
   तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसाऽर्धभेदकृत्॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 13

'माधवनिदान' में भावप्रकाश के समान कर्णप्रतिनाह रोग के लक्षण बतायें गयें हैं, जिसका हम पहले वर्णन कर चुके हैं।[1]

(9) **कृमिकर्ण** :– 'भावप्रकाश' में कृमिकर्ण रोग के लक्षण में कान में कीड़े पड़ जाते हैं या मक्खियाँ कान में अपने बच्चे पैदा कर देती है तो कान में कृमियों के लक्षण मिलने लगते हैं।[2]

अष्टाङ्गहृदय में वर्णित इस रोग के लक्षण में वातादि से दूषित कान में माँस, रक्त और क्लेद से उत्पन्न कृमि (कीड़े) कान को खाते हुए तीव्र वेदना के उत्पन्न करते हैं।

(10–11) **दो प्रकार के विद्रधि** :– भावप्रकाश ने कान में दो प्रकार की विद्रधि रोग होते हैं।

(क) क्षत (घाव) जन्य अथवा अभिघात (चोट) जन्यः– इन दोनों विद्रधियों का समावेश आगन्तुज में होता है।[4]

(ख) **वातादिदोषजन्य** :– इस रोग में विद्रधियों के होने पर कान से लाल, पीला और अरुण वर्ण का स्राव होता है और कान में सूई कोचने जैसी पीड़ा प्रतीत होती है, इसके साथ ही कान से धुआँ निकलने जैसा दाह और अग्नि के ताप जैसी गर्मी कान में प्रतीत होती है।

---

1. स कर्णगूथो द्रवतां गतो यद विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत्॥
—म॰ नि॰, अ॰ 17, श्लो॰ 7

2. यदा तु मूर्च्छन्त्यथवा तु जन्तवः सृजन्त्यपत्त्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तदञ्जनत्त्वाच्छ्रवणे निरूच्यते भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 14

(12) **कर्णपाक** :- 'भावप्रकाश' के अनुसार कर्णपाक रोग के लक्षण में प्रकुपित पित्त के कारण कान में दुर्गन्धयुक्त सड़न और गीलापन उत्पन्न होता हैं।[1]

'माधवनिदान में वर्पित कर्णपाक रोग में पित्त के कारण, कर्णविद्रधि के पकने से अथवा कर्ण में जल से भर जाने कोथ (सड़न) और क्लिन्नता को करने वाला कर्णपाक नामक रोग उत्पन्न हो जाता है।[2]

(13) **पूतिकर्ण** :- 'भावप्रकाश' मे पूतिकर्ण रोग के लक्षण में कर्णविद्रधि के पक जाने अथवा कान में पानी भर जानें से कान से दुर्गन्धित स्राव कानों में बहता है।[3]

'अंष्टाङ्गहृदय' के अनुसार पूतिकर्ण रोग में पित्त से विदग्ध हुआ कफ दर्द्र के साथ अथवा दर्द्र के बिना भी अधिक दुर्गन्धयुक्त बहुत क्लेद को पैदा करता है।[4]

---

1. क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः।
स रक्तपीतारूणमस्त्रमास्त्रवेत्प्रतोदधूमायनदाहचोषवान्॥
कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 16, 17
2. कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत्।
कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात्॥
—म॰ नि॰, अ॰ 47, श्लो॰ 12
3. कर्णविद्रधिपाकेन कर्णे वा वारिपूरणत्।
पूयं स्त्रवति यः पूति स ज्ञेयः पूतिकर्णकः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 18
4. कफो विदग्धः पित्तेन सरूजं नीरूजं त्वपि।
घनपूतिबहुक्लेदं कुरूते पूतिकणकम्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 17, श्लो॰ 12

(14–17) **कर्णार्श :–** 'भावप्रकाश' के अनुसार कर्णार्श रोग के लक्षण चार प्रकार के होते हैं जैसे वातज, पित्तज, कफज और रक्तज। इस रोग के लक्षण कर्णशूल रोग के लक्षण के समान है, जिसका हम पूर्वोक्त (पृष्ठ17) में वर्णन कर चुके हैं।

(18–24) **कर्णार्बुद :–** 'भावप्रकाश में वर्णित कर्णार्बुद रोग के लक्षण सात प्रकार के होते हैं जैसे वातज, पित्तज, कफज, खतज, मांसज, मेदज और शिराजन्य।

(28–25) **कर्णशोथ :–** चार प्रकार के कर्णशोथ होते हैं जैसे वात, पित्त, कफ और रक्त। इन रोगों के लक्षणों का वर्णन कर्णशूल नामक रोग के लक्षण के समान है, जिसका हम पूर्वोक्त वर्णन (पृष्ठ/7) में कर चुके हैं।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में शोफ, अर्श और अर्बुद रोग के लक्षणों में वेदना, पूतिकर्णत्व और बहरापन होता हैं।[2]

(ii) श्रोत्ररोग की चिकित्सा :– कर्ण रोग के नाम तथा उनके लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात् कर्ण रोग की चिकित्सा कई प्रकार की हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार हैः–

---

1. कर्णशोथार्बुदार्शंसि जानीयादुक्तलक्षणै॥
कर्णशोथाश्च चत्वारो = वातपित्तकफरक्तजाः।
एवमर्शोऽपि चतुर्विधम्। अन्येषां शोथानामर्शसां चासम्भवः, आधारप्रभावात्।
अर्बुदं सप्तविधं = वातपित्तकफरक्तमांसमेदः शिराजम्।
एते कर्णरोगा अष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 19

2. शोफोऽर्शोऽर्बुदमीरितम्।
तेषु रुक् पूतिकर्णत्वं बधिरत्वं च बाधते॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 17, श्लो॰ 15

कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड :- 'भावप्रकाश' के अनुसार इन चारों रोगों में एक-जैसी चिकित्सा करनी चाहिए। जैसे आदी रस और शहद तथा सेंधा नमक और तेल में मिलाकर थोड़ा गर्म करके (गुनगुना सा) कान में डालने से कान की पीड़ा दूर होती है।[1] इसके अतिरिक्त लहसुन, आदी और सहजन, बरूना, मूली और केले का रस थोड़ा गर्म करके कान में डालने से भी पीड़ा नष्ट होती है।

कर्णशूल :- 'चक्रदत्त ' के अनुसार कर्णशूल चिकित्सा में कैंथ, पका हुआ विजौरा नींबू तथा अदरक इन सबका स्वरस कुछ गुनगुना करके कान में डालने से कर्णशूल रोग शान्त हो जाता है।[2]

कर्णनाद :- 'चक्रदत्त' में वर्णित कर्णनाद (सनसनाहट) रोग की चिकित्सा में कटुतेल को कान में डालना चाहिए। इसके साथ कर्णनाद और बधिरता में वातशूल की औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

'भैषज्यरत्नावली' में भी कर्णनाद रोग की चिकित्सा चक्रदत्त में कर्णनाद रोग के समान बतायी गई है, जिसका हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं।[3]

बाधिर्य :- 'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार बाधिर्य रोग की चिकित्सा इस प्रकार

---

1. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेडे एव च।
चतुर्ष्वपि च रोगेषु सामान्यं भेषजं स्मृतम्॥
शृङ्गवेरं सहमधु सैन्धवं तैलमेव च।
कदुष्णं कर्णयोर्धार्यमेतत्स्याद् वेदनाऽपहम्॥
लशुनार्द्रकशिगूणां वारूण्या मूलकस्य च।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 29, 30

2. कपित्थमातुलुङ्गाम्लशृङ्गवेररसैः शुभैः।
सुखोष्णैः पूरयेत् कर्णं कर्णशूलोपशान्तये॥
कर्णनादे कर्णक्ष्वेडे कटुतैलेन पूरणम्।
नादबाधिर्ययोः कुर्य्याद् वातशूलोक्तमौषधम्॥
—च॰ द॰, अ॰ 57, श्लो॰ 24

3. कर्णनादे कर्णक्ष्वेडे कटुतैलेन पूरणम्।
नादबाधिर्य कुर्याद् वातशूलोक्तमौषधम्॥
—भै॰ र॰, अ॰ 62, श्लो॰ 25

के गई है– शर्करा, मुलैहठी और कन्दूरी इनके कल्क से बकरी के इध में तेल पकाना चाहिए। इस तेल को गर्म–गर्म कन्दूरी के काढ़े में डालकर मले। ठण्डा होने पर जो ऊपर आ जाये, उसे निकालकर फिर से शर्करा, मुलैहठी, चन्दन इसके कल्क के साथ दस गुणा इध में पकाना चाहिए इस तेल को बिल्व के काढ़े सें गाढ़ा बनाकर बधिरता रोग के उपचार में कान में भरना चाहिए।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित कर्ण रोग की चिकित्सा में एरण्ड, सहजना, बरना, मूली इन सब के पत्तों के रस को तेल से चार– गुना रस में या तेल से आठ–गुना दूध में मूलहठी और क्षीरकाकोली कल्क के साथ तेल में पकाना चाहिए। फिर इस तेल का कर्ण में प्रयोग करने पर कर्णशूल, कर्णनाद तथा बाधिर्य रोग नष्ट ही जाते हैं।[2]

'भावप्रकाश' के अनुसार कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड की चिकित्सा में कान में सरसों का तेल डालना चाहिए और वातनाशक औषधि से चिकित्सा करना भी लाभदायक होता है।[3]

---

1. सितामधुकबिम्बीभिः सिदं वाऽऽजे पयस्यपि।
बिम्बीक्वाथे विमथ्योष्णं शीतीभूतं सदुद्घृतम्॥
पुनः पचेद्दशक्षीरं सितामधुकचन्दनैः।
बिल्वाम्बुगादं तत्तैलं बाधिर्ये कर्णापूरणम्॥
—सु॰ सं॰ उ॰ स्॰, अ॰ 21, श्लो॰ 36, 37

2. एरण्डशिग्रुवरूणमूलकात्पत्रजे रसे।
चतुर्गुणे पचेतैलं क्षीर चाष्टगुणोन्सिते॥
क्षीरकाकोलीकल्कयुक्तं निहन्ति तत्।
बाधिर्यशलानि नावनाभ्यङ्गपूरणैः॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 18, श्लो॰ 23, 24

3. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च।
पूरणं कटुतैलेन हितं वातध्नमौषधम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 64, श्लो॰ 37

कर्णस्राव पूतिकर्ण और कृमिकर्ण :- 'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार कर्णस्राव, पूतिकर्ण और कृमिकर्ण — इन रोगों की चिकित्सा एक समान मानी गयी है, विशेष योगों को भी इनमें बरतना चाहिए।[1]

कर्णस्राव :- 'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार कर्णस्राव रोग की चिकित्सा में प्रियंगु, मुलहठी, पाठा, धातकी, नीलोत्पल, पृश्निपर्णी, मंजीठ, लोध, लाक्षा, इनके कल्क और कैथ के रस से तेल निकालकर कानों में डालने स्राव को शीघ्र रोकता है।[2]

कृमिकर्णः- 'भावप्रकाश' में वर्णित कृमिकर्ण रोग की चिकित्सा में कृमिकर्ण के कृमियों का नाश करने के लिए कृमिनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। यह चिकित्सा इस प्रकार है:-

कान में बैंगन का धुआँ देना चाहिए अथवा कान मे सरसों का तेल डालना चाहिए। इसके अतिरिक्त कान में गोमूत्र के साथ हरताल का चूर्ण डालना चाहिए। यदि कर्ण से दुर्गन्ध आये, तो गुग्गुल का धुआँ देना उत्तम होता है।[3]

---

1. कर्णस्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके।
समानं कर्म कुर्वीत योगान् वैशेषिकानपि॥
—सु० सं० उ० स्०, अ० 21, श्लो० 39

2. प्रियङ्गुमधुम्बष्टाधातक्युत्पलपर्णिभिः॥
मञ्जिष्ठालोध्रलाक्षाभिः कपित्थस्य रसेन च।
पचेत्तैलं तदास्रावं निगृह्लात्याशु पूर्णात।
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 18, श्लो० 20, 21

3. कृमिकर्णविनाशाय कृमिघ्नीं कारयेत्क्रियाम्।
वार्त्ताकुधूमश्च हितः सार्षपः स्नेह एव च॥
पूरणं हरितालेन गव्यमूत्रयुतेन च।
धूपने कर्णदौर्गन्ध्ये गुग्गुलुः श्रेष्ठ उच्यते॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 63, श्लो० 48

'सुश्रुतसंहिता' मे कृमिकर्ण रोग की चिकित्सा में सूखी बड़ी कटेरी का धुआँ कान में देना चाहिए अथवा सरसों का तेल कान में डालना उत्तम होता है।[1]

पूतिकर्ण :– 'सुश्रुतसंहिता' में पूतिकर्ण रोग की चिकित्सा में रसौंत धावन में में घिसकर मधु के साथ मिलाकर डालना चाहिए। निर्गुण्डी का रस, तेल, सैन्धव धर का धुंवासा गुड़ और मधु इन पूतिकर्ण में भरने से रोग नष्ट हो जाता है।[2]

कर्णकण्डू :– 'चक्रदत्त' के अनुसार कर्णकण्डू रोग की चिकित्सा में नाडीस्वेद वमन, धूम, शिरोविरेचन तथा कफ को दूर करने वाली अन्यान्य चिकित्सा करनी चाहिए।

कर्णगूथ :– 'चक्रदत्त' में कर्णगूथ रोग की चिकित्सा में कान में तेल डालकर तथा कर्णमल को स्वेदित करके तरल कर लेना चाहिए। इसके बाद वैद्य को शलाका से उसे सावधानी से निकाल लेना चाहिए।

कर्णप्रतिनाह :– 'चक्रदत्त' में वर्णित कर्ण प्रतिनाह रोग की चिकित्सा में प्रथम स्नेहन, स्वेदन तथा शिरोविरेचन करना चाहिए। इसके बाद दोषों के अनुसार उपचार करना चाहिए।

---

1. वार्ताकुधूमश्च हितः सार्षपस्नेह एव च॥
   —सु॰ सं॰ द॰ स्॰, अ॰ 21, श्लो॰ 51
2. नाडीस्वेदोऽथ वमनं धूमो मूर्द्धविरेचनम्।
   विधिश्च कफहा सर्वः कर्णकण्डूं व्यपोहति॥
   क्लेदयित्वा तु तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च।
   शोधयेत् कर्णगूथन्तु भिषक् सम्यक् शलाकया॥
   अथ कर्णप्रतीनाहे स्नेहस्वेदो प्रयोजयेत्।
   ततो विरिक्तशिरसः क्रियां प्राप्तां समाचरेत्॥
   —च॰ द॰, अ॰ 57, श्लो॰ 41, 42, 39

कर्णविद्रधि :– 'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार कर्ण विद्रधि रोग की चिकित्सा इस प्रकार हैं :–

कर्णविद्रधि में प्रथम वमन देकर पीछे से विद्रधि क्रिया करना उत्तम है।

क्षतविद्रधि में पित्तजन्य कर्णशूल में कही गई चिकित्सा करनी चाहिए जिसका हम पूर्व (पृष्ठ/8●) में वर्णन का चुके हैं।

कर्णार्श और कर्णार्बुद :– 'अष्टाङ्गहृदय' में कान के अर्श और अर्बुदों में नासा की भांति नासार्श और नासार्बुद की चिकित्सा करनी चाहिए।[1] और इस चिकित्सा का वर्णन इस प्रकार है। अर्श और अर्बुद में सूत्रस्थान, हरताल पित्पली चित्रक इसके कल्क को मधु और घृत में मिलाकर इनकी वर्त्ति को कर्ण में प्रविष्ट करे।[2]

कर्णशोथ, कर्णार्बुद और कर्णाश :– 'भावप्रकाश' के अनुसार कर्णशोथ कर्णार्बुद और कर्णाश की चिकित्सा क्रम से चिकित्सा के समान शोथ, अर्बुद और अर्श की चिकित्सा की भान्ति करनी चाहिए, जिसका वर्णन पूर्वोक्त अध्याय में कर चुके हैं।[3]

---

1. वमिपूवा हिता कर्णविद्रधौ विद्रधिक्रिया।
पित्तोत्थकर्णशूलोक्तं कर्तव्यं क्षतविद्रधौ॥
अर्शोऽर्बुर्दषु नासावद्–
–अ० हृ०, अ० 18, श्लो० 36
2. निकुम्भकुम्भसिन्धूत्थमनोह्वाऽऽलकणाऽग्निकैः।
कल्कितैर्घृतमध्वक्तां घ्राणे वर्तिं प्रवेशयेत्॥
–अ० हृ०, अ० 20, श्लो० 24
3. चिकित्सा कर्णशोथानां तथा कर्णार्शसामपि।
कर्णार्बुदानां कुर्वीत शोथार्शोऽर्बुदवद्भिषक्।
–भा० प्र० चि० प्र०, अ० 64, श्लो० 49

(ङ) श्रोत्र को स्वस्थ रखने के घरेलू उपचार :-

1. लहसुन (Garlic) कर्णशूल में लहसुन के गुनगुने रस का या तेल में लहसुन को गर्म करके तेल का उपयोग कर्णशूल में लाभदायक है।

2. प्याज (Onion):- प्याज के साधारण गर्म (गुनगुने) रस को कान डालने से कर्णशूल कम हो जाता है। इसके बीच के टुकड़े को कान में रखने से लाभ होता है।[1]

3. कान में आवाज़ होना :- पीपल, हींग, बच और लहसुन इन चारों को कड़वे तेल में पकाकर उस तेल को कान में डालने से कर्णनाद रोग ठीक हो जाता है।[2]

4. स्वेदन, विरेचन वमन, नस्य, धूमपान, शिरामोक्षण, गेहूँ, शालिचावल, यव पुरानाघृत, मयूर, हरिण, तित्तिर, जङ्गली कुक्कुट का मांस पटोलपत्र सहजन फली, बैंगन चौपतिया, पुनर्नवा, सब प्रकार के रसायन प्रयोग ब्रह्मचर्य, कम बोलना यह सब पदार्थ कर्ण रोगी के लिए लाभकारी है।[3]

---

1. भा० प्र० नि०, पृ० 111, 113
2. चि० च० उ०, पृ० 131
3. स्वेदो विरेको वमनं नस्यं धूमः शिराव्यधः।
गोधूमाः शालयो भुद्गा यवाश्च प्रतनं हविः॥
लावो मयूरो हरिणस्तित्तिरो वनकुक्कुटः।
पटोलं शिग्रु वार्ताकुं सुनषिष्णं कठिल्लकम्॥
रसायनानि सर्वाणि ब्रह्मचर्यमभाषणम्।
उपयुक्तं यथादोषमिदं कर्णामये हितम्॥
—भै० र०, अ० 62, श्लो० 82-84

तृतीय अध्याय

त्वक्रोग एवं निदान

तृतीय अध्याय

(क) शरीर में त्वक् का स्थान

सम्पूर्ण शरीर त्वक् से ढका होता है। त्वक् से ही मांसादि कोमल अङ्गों की रक्षा होती है। उससे नीचे रहने वाले भाग को तब तक हानि नहीं पहुँच सकती जब तक त्वक् को हानि न पहुँचे। त्वक् रोगोत्पादक जन्तुओं और विभिन्न विषों को शरीर भीतर घुसने से रोकती हैं।

त्वक् के भाग :- त्वक् के दो भाग होते हैं।

(i) ऊपर का पतला भाग या उपचर्म (Epidermis)।

(ii) उपचर्म के नीचे का मोटा भाग या चर्म (Dermis)।

उपचर्म :-

यह त्वचा वह भाग है, जो उबलते हुए द्रवों औषधियों के लगने से चर्म से अलग हो जाता है, इसके और चर्म के बीच में तरल के इक्ट्ठे होने से फफोला या छाला बन जाता है। उपचर्म कई प्रकार की सेलों से निर्मित है। ये सेलें (cells) एक दूसरे के ऊपर कई तहों (स्तरों) में बिछी रहती है। ऊपर की सेलें बहुत पतली और चपटी होती है जबकि नीचे की तहों की सेलें मोटी और मुलायम होती हैं। उपचर्म के ऊपर की पतली चर्म सख्त होती है और इसका रंग श्याम या पीले वर्ण का होता है।

प्रतिदिन उपचर्म की ऊपर की सेलें घिसघिसकर गिरती रहती है और नीचे की सेलें उनकी जगह आ जाती है। उपचर्म की मोटाई सब स्थानों में एक सी नहीं

होती है। हथेलियों, पाँव के तलवों व पीठ की उपचर्म दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक मोटी होती है। त्वचा के इस भाग में रक्तकेशिका (Blood capillary) नहीं होती। त्वचा का पोषण लसीका (Lymph) से होता है जो चर्म के नीचे होता है।

चर्म :-

त्वचा का यह भाग उपचर्म से अधिक मोटा और मज़बूत होता है। पैर के तलवों, हथेलियों, कमर और पीठ की चर्म शरीर में सब से मोटी होती है। पलकों, अण्डकोष और शिश्न (Penis) की चर्म बहुत पतली होती है।

चर्म में सेलों के अतिरिक्त सौत्रिक तन्तु (Fibrous tissue) रक्त या लसीका वातसूत्र (Blood or lymph Nerve fibre) भी होते हैं। इसमें दो प्रकार की ग्रन्थियाँ और बालों की जड़े रहती है।

उपचर्म के नीचे के भाग में चर्म के ऊपर के भाग में नन्हें-नन्हें उभार अथवा कंगूरे होते हैं। ये उभार सौत्रिक तन्तु वा रक्त केशिकाओं के झुण्ड होते हैं। हथेलियों और तलवों की त्वचा में ये उभार मोटे होते हैं। अँगुलियों के शंख और चक्र इन्हीं कंगूरों की रेखाओं से बनते हैं। आजकल काली स्याही से अँगुलियों के छाप जो लिये जातें हैं, वे इन्हों कंगूरों की कतारों की छाप होती है। इस प्रकार सिद्ध हो गया है कि किसी एक मनुष्य की अँगुलियों की छाप दूसरे मनुष्य की अँगुलियों के छापों से नहीं मिलती हैं। एक मनुष्य के हस्ताक्षर दूसरे मनुष्य के हस्ताक्षरों से मिल सकते हैं, परन्तु अँगुलियों के छापों में कुछ न कुछ भेद बहुधा अवश्य होता है। इन छापों से अपराधियों की पहचान करने में बड़ी सहायता मिलती है। कभी-कभी घातकों का भी पता लग जाता है।

त्वक् में ग्रन्थियाँ :-

त्वक् में ग्रान्थियाँ दो प्रकार की होती हैं —

(i) वे जिनमें तेल जैसी चिकनी वस्तु बनती है।

(ii) जो पसीना बनाती हैं।

दोनों प्रकार की ग्रन्थियाँ चर्म में होती हैं।

(i) तेल की ग्रन्थियाँ :-

ये नन्हीं-नन्हीं थैलियाँ है, जिनकी दीवारों की सेलें एक चिँनाईदार वस्तु से बनती है। प्रत्येक थैली से एक छोटी-सी नली निकलती है, जिसमें से होकर यह वस्तु एक छोटी-सी नली निकलती है, जिसमें से होकर यह वस्तु बालों की जड़ों में पहुँचती है और बालों को चिकना तथा चमकदार बनाती हैं। साबुन से स्नान करने से यह चिकनी वस्तु घुल जाती है और हमारे बाल और त्वचा से रूखे और पहले से कम चमकदार मालूम होने लगते हैं। चेहरे की त्वचा में और स्थानों की अपेक्षा अधिक ग्रन्थियाँ रहती हैं। ये ग्रन्थियाँ हथेलियों और पैरों के तलवों में नहीं पाई जाती हैं।

(ii) पसीने की ग्रन्थियाँ (Sweet gland) :-

ये चर्म के सबसे नीचे के भाग में रहती हैं हर एक ग्रन्थि वास्तव में एक नली है, जिसका नीचे का सिरा बन्द होता है, इस नली का ऊपर का भाग सीधा होता है। नीचे का भाग सर्प की भाँति गेंडली मारे रहता है। नली की दीवारें सेलों से बनती हैं। ग्रन्थि के चारों और केशिका (Capillary) का जाल रहता है। ग्रन्थि

की सेलें चुने हुए लसीका से कुछ जल, यूरिया (Urea) और कई प्रकार के लवण (Saltish) ले लेती हैं। यह तरल, जिसमें ये सब पदार्थ घुले रहते हैं, पसीना या घर्म कहलाता है।

पसीना नालियों में बहता हुआ इन छिद्रों (Sweat pores) द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। बगल और जंघासा की त्वचा में यह ग्रन्थियाँ बड़ी-बड़ी होती हैं। हथेलियों और पैरों के तलवों में इन स्थानों की अपेक्षा अधिक पसीना आता है। अनुमान है कि हथेली की एक बर्ग इंच त्वचा में 2800 पसीनें के छिद्र होते हैं, सम्पूर्ण शरीर में 24 लाख के लगभग ग्रान्थियाँ होती हैं।

ग्रीष्म ऋतु में और व्यायाम या अधिक परिश्रम करने से पसीना अधिक निकलता है और मूत्र कम आता है शीत ऋतु में और कम परिश्रम करने से पसीना कम आता है और मूत्र अधिक आता है। कई औषधियों के सेवन से भी पसीने की मात्रा अधिक या कम होती है और अधिक पसीना आता है।

त्वक् सम्बन्धित अन्य तत्त्व :-

लोम या बाल (Hair follicle) :- लोम अथवा बाल त्वचा से ही निकलते हैं। तीन स्थानों हथेलियों, तलवों और शिशन (Penis) को छोड़कर थोडे बहुत बाल शरीर के हर एक भाग में रहते हैं।

नख (Nail) :-

हाथ और पैर की हर एक अँगुली के अन्तिम पोर्वे में एक नख या नाखुन रहता है। नख अपने नीचे के चर्म से खूब चिपटा रहता है। नख में उपचर्म की

तरह रक्त की नलियाँ (Blood vessels) नहीं होती हैं, उसका पोषण चर्म के लसीके से होता है। नख वास्तव में उपचर्म ही है, जिसकी सेलें अधिक सख़्त होती हैं।

तापक्रम (Temperature) :-

त्वचा शरीर के तापक्रम को स्थिर रखने में भी सहायता देती है। जब किसी कारण जैसे ज्वर में या अधिक व्यायाम करने से शरीर में अधिक उष्णता उत्पन्न होती है, तो त्वचा की रक्तवाहिनियाँ फैलकर पहले से अधिक चौड़ी हो जाती हैं और उनमें अधिक रक्त बहता है। इस कारण त्वचा पहले की अपेक्षा अधिक गर्म और लाल होती है।

स्पर्शेन्द्रिय (Organ of touch) :-

त्वक् हमारी स्पर्शेन्द्रिय है, उसके द्वारा ही हमको शीत, उष्णता, पीड़ा और दबाव आदि का ज्ञान होता है।[1]

(ख) त्वक् में कुष्ठरोग (Leprosy) के कारण :-

'भावप्रकाश' के अनुसार त्वक् रोग में कुष्ठरोग होने के विभिन्न कारण इस प्रकार हैं :-

आयु और लिङ्गः-

यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है। इस रोग का उपसर्ग प्रायः बचपन में ही होता है। स्त्रियों की अपेक्षा परुषों में तीन-गुना अधिक होता है।

---

1. ह० श० र०, पृ० 338–345

जाति और सामाजिक कुरीतियाँ :-

संसार की कोई जाति इस रोग से मुक्त नहीं है। सामाजिक कुरीतियाँ जैसे एक बिस्तर पर सोना, एक थाली में खाना, एक बर्तन में पानी तथा एक हुक्के का पानी पीना इत्यादि कुरीतियाँ रोग प्रसार में सहायक होती हैं।

व्यक्तिगत कुरीतियाँ :-

आहार-विहार व्यभिचार, विषयों का अधिक सेवन करने से आलस करने से, आलस करने से, अधिक श्रम करने से, शरीर और कपडों की सफाई न रखने इत्यादि से यह रोग फैलता है।

आहारदोष :-

कुष्ठरोग आहारदोष से भी होता है। बासी तथा सड़े-गले अन्न को खाने से तथा मांस, मछली का सेवन अधिक करने से, अधिक पके हुए और कम पके हुए खाने से, अन्न का सेवन अधिक करने से, मांसजातीय पदार्थों का एवम् नमकीन खनिज का अतिसेवन अपर्याप्त तथा हीन (illbalanced) आहार का सेवन करने से दूध और मछली तथा दही और दूध इत्यादि परस्पर विरोधी अन्न-पानों के सेवन से, द्रव्य स्निग्ध पदार्थों के सेवन से मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से अधिकमात्रा में भोजन करके व्यायाम करने इत्यादि से कुष्ठरोग के कारण होते हैं।

परिस्थितियाँ :-

अधिक जनसम्मर्द, अधिक गन्दगी, प्रकाश और शुद्ध वायु की कमी ऐसी परिस्थिति में अर्थात् गुन्जार मुहल्लों में और बस्तियों के अंधेरे, गन्दे, खराब हवा

के मकानों में रहने वाले लोग इस कुष्ठ रोग से अधिक पीड़ित होते हैं।

कुलज प्रवृत्ति :-

कुष्ठी माता-पिता से उत्पन्न हुई सन्तान आधुनिक सम्प्राप्ति के अनुसार यघपि कुष्ठी नहीं है तथापि उनमें कुष्ठोत्पत्ति को सम्भावना रहती है।

अन्य रोगों के परिणाम :-

त्वचा के रोग, अन्य कृमि, दांत-मसूड़े तथा गले के रोग, गम्भीर बुखार इत्यादि रोगों से पीड़ित हुए अथवा कमज़ोर रोगियों में प्राण शक्ति कम होने के कारण कुष्ठरोग शीघ्र होता है।

घनिष्ठ सम्बन्ध :-

कुष्ठी के साथ अधिक काल तक अधिक निकट सम्बन्ध कुष्ठोत्पत्ति का सहायक कारण है। विशेषकर जब यह बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में होता है, तब रोगोत्पत्ति अन्य काल की अपेक्षा अधिक होती है।[1]

(ग) त्वक् में कुष्ठरोग के पूर्वरूप :-

'भावप्रकाश' के अनुसार जिस स्थान में कुष्ठ उत्पन्न होने वाला होता है, वह स्थान स्पर्श करने पर अप्यन्त मृदु तथा अत्यन्त खर प्रतीत होता है। उस स्थान पर पसीना आता है अथवा धूप की किरणें इत्यादि के पड़ने से त्वचा पर स्वेदभाव होता है। स्थान का व्रण (घाव) विकृत हो जाता है। दाह, कण्डू, त्वचा में स्पर्श ज्ञान का अभाव होता है। सुई चुभोने के समान वेदना होती है। ग्लानि व्रणों में

---

1. भा० प्र०, पृ० 520

अत्यन्त पीड़ा, घावों का शीघ्र उत्पन्न होना, अधिक समय तक रहना, व्रणों के भर जाने पर भी रूक्षता का रहना, थोड़े ही कारण से व्रणों का प्रकुपित होना, रोमहर्ष तथा रक्त का काला होना। ये सब कुष्ठरोग के पूर्वरूप होते है।[1]

'सुश्रुत संहिता' में वर्णित कुष्ठरोग होने से पहले त्वचा में कठोरता, बिना कारण के ही रोमांच होना, शरीर में कण्डू, पसीने का बहुत आना या बिल्कुल न आना, अंग-प्रत्यंगों में स्पर्श ज्ञान का अनुभव न होना, व्रण का फैलना और रक्त के काले पड़ने से कुष्ठ का ज्ञान होता है।[2]

(घ) त्वक् में कुष्ठरोग के प्रकार :-

'भावप्रकाश' के अनुसार कुष्ठरोग अठारह प्रकार का होता है।

1.	कपाल	2.	औदुम्बर
3.	सिध्म	4.	काकणक
5.	पुण्डरीक	6.	मण्डल
7.	ऋक्षजिह्वक		

ये सात महाकुष्ठ कहलाते हैं।

8.	एक कुष्ठ	9.	गजचर्म

---

1. अतिश्लक्ष्ण: खरस्पर्श: स्वेदास्वेदविवर्णता।
दाह: कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोद: कोठोन्नति:
क्लम: व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थिति: ॥
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपि कोपनम्।
रोमहर्षोऽसृज: कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 13

2. त्वक्पारूष्यमकस्माद्रोमहर्ष: कण्डू: स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वाय: क्षतविसर्पणमसृज: कृष्णत चेति।
—सु० सं० नि० स्०, अ० 5, श्लो० 4

10. चर्मदल
11. विचर्चिका
12. पामा
13. कच्छू
14. दद्रु (दाद)
15. विस्फोट (फफोले)
16. किटिभ
17. अलसक
18. शतारू

ये ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ कहलाते हैं।[1]

सम्पूर्ण कुष्ठों (छोटे-बड़े सब) में वायु-पित्त-कफ और कृमि के कारण से उत्पन्न होते हैं। किसी भी कुष्ठ में दोष की प्रबलता से कहा जा सकता है कि कुष्ठ वातजन्य अथवा पित्त जन्य है, इत्यादि।[2]

(ङ) त्वक् में कुष्ठरोग के लक्षण एवं चिकित्सा :-

(i) त्वक् में कुष्ठरोग के लक्षण :-

1. **कपाल कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' के अनुसार कपाल कुष्ठरोग के लक्षण में कभी त्वचा कृष्ण वर्ण की और कभी रक्तवर्ण की होती है, खपड़े के समान, रुक्ष, स्पर्श करने में खर, पतली त्वचा वाला तथा सुई चुभाने के समान तीव्र पीड़ायुक्त होती है।[3]

---

1. पूर्वं त्रिकं तथा सिध्मं ततः काकणकं तथा।
पुण्डरीकर्क्षजिह्वके महाकुष्ठानि सप्त च॥
एककुष्ठं स्मृतं पूर्वं गजचर्म ततः स्मृतम्।
ततश्चर्मदलं प्रोक्तं ततश्चापि विचर्चिका॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 7, 8

2. सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि च भवति, उत्सन्नतस्तु दोषग्रहणमभिभवात्॥
—सु॰ सं॰ नि॰ स्॰, अ॰ 5, श्लो॰ 5

3. कृष्णारूपकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु।
कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 18

'माधवनिदान' में वर्णित कपाल कुष्ठरोग के लक्षण में कृष्ण (काला) वा अरुण (लाल) वर्ण के कपालों की सी कान्तिवाला, रुक्ष कठोर एवं तनु त्वचा वाला तोदबहुल कुष्ठ कपाल संज्ञक होता है।[1]

2. **औदुम्बर कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में जो कुष्ठ गूलर के फल के समान होता है, रोमयुक्त, पीड़ा दाह, रक्त जैसा लाल तथा कण्डू से व्याप्त होता है, उसे औदुम्बर कुष्ठ कहते हैं।[2]

'चरकसंहिता' के अनुसार औदुम्बर कुष्ठ को उदुम्बर कुष्ठ कहा गया है। इस रोग के लक्षण इस प्रकार हैः- ताँबे के समान वर्णवाला रोमयुक्त, सघन और बहुत तथा गाढ़ी लसीका युक्त खाज, क्लेद, सड़न, जलन, पाक इनसे युक्त फैलनेवाला, झट प्रकट हो जानेवाला होता है। इसके साथ ही जल्दी फट जाने वाला, संताप और कृमियुक्त तथा पके हुए गूलर फल के समान होता है।[3]

3. **सिध्म कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' के अनुसार सिध्म कुष्ठरोग के लक्षण में श्वेत तथा ताम्रवर्ण

---

1. कृष्णारूणकपालाभं यद्रक्षं परुषं तनु।
कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम्॥
—म० नि०, अ० 49, श्लो० 10

2. उदुम्बरपालाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत्।
रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 19

3. ताम्राणिताम्ररोमराजीभिरवनद्धानिबहुलानिबहुबहलरक्तपूयलसकिानि-
कण्डूकलेदकोथदाहयाकन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनिससन्ताप-
क्रिमीव्युदुम्बरफलपक्वपर्णान्युदुम्बरकुष्ठानीतिविधात्॥
—च० सं०, अ० 5, श्लो० 11

की त्वचा होती है। इस कुष्ठरोग में पतली त्वचा हो जाती है। रगड़ने से जिसमें धूल के समान छोटे टुकड़े गिरें और लौकी के फूल के समान होता है। यह कुष्ठ प्रायः छाती में होता है, छाती के अतिरिक्त अन्य अङ्गों मे भी हो सकता है।[1]

'माधवनिदान' में वर्णित सिध्म कुष्ठ में त्वचा श्वेतवर्ण, ताम्रवर्ण, तनु और घिसने से ऊपर से उखड़ती है। यह रोग प्रायः छाती पर होता है। रोग की प्रकृति अलाबु फूल के समान होती है।[2]

4. **काकण कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में जो कुष्ठ गुञ्जा के वर्ण के समान अर्थात् बीच में कृष्णवर्ण और अन्त में रक्तवर्ण हो अथवा बीच में रक्तवर्ण तथा अन्त में कृष्णवर्ण होता है और इसके अतिरिक्त न पकने वाला, तीव्रवेदनायुक्त, तीनों दोषों की उल्वणता से उत्पन्न होने वाला (यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषजन्य ही होते है, तथापि इसमें तीनों दोषों वायु- पित्त- कफ की उल्वणता) होती है। उसे काकण कुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठ असाध्य होता है।[3]

'चरकसंहिता' में वर्णित काकण नामक कुष्ठरोग के लक्षण में पहले कुष्ठ रक्त के समान वर्ण वाले होते हैं, फिर सम्पूर्ण कुष्ठों के लक्षण से युक्त हो जाते

---

1. श्वेतताम्रञ्च तनु यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति।
प्रायेणारसि तत्सिध्ममलाबुकुसुमोपमम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 21
2. श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रिजो घृष्टं विमुञ्चति।
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम्॥
—म॰ नि॰, अ॰ 49, श्लो॰ 15
3. यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्।
त्रिदोषलिङ्ग तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 22

हैं। पापीजनों के शरीर में यह कुष्ठ होकर सब कुष्ठों के लक्षणों को धारण करते हैं तथा अनेक वर्ण के होते हैं। इन अनेक लक्षणवाले कुष्ठों के वर्ण वेदनादियुक्त होते हैं।[1]

5. **पुण्डरीक कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में इस रोग के लक्षण में कुष्ठ श्वेत कमल के पत्र के समान श्वेतवर्ण होता हैं। अन्त में अत्यन्त लालिमा युक्त हो जाता है। उभरा हुआ तथा कफ की उल्वणता से युक्त होता है।[2]

'चरकसंहिता' में पुण्डरीक कुष्ठरोग में त्वचा सफेद तथा लालवर्ण वाली होती है। किनारे लालवर्ण और लालरोम युक्त एवं ऊँचे होते हैं। उसमें से अधिक रक्त, लसीका निकलता है और खाज, कृमि, दाह, पाक — इन सब से युक्त होता है। जल्दी फैलने वाला, उत्पन्न होने वाला और फटजाने वाला होता है। यह रोग कमल के फूल की कँकड़ी के समान होता है।[3]

6. **मण्डल कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में इस रोग में कुष्ठ कभी श्वेत तथा कभी रक्त वर्ण का होता

1. यसांसर्वकुष्ठलिङ्गसम्भेवनानेकवर्णानिकाकणकानीतिविद्यात्॥
काकणन्तिकावर्णान्यादौपश्चात्सर्वकुष्ठलिङ्गसमन्वितानिपापी-
यसांसर्वकुष्ठलिङ्गसम्भेवनानेकवर्णानिकाकणकानीतिविद्यात्॥
—च॰ सं॰, अ॰ 5, श्लो॰ 16

2. तच्छ्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्।
सरागञ्चैव सोत्सेधं पुण्डरीकं कफोल्वणम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 6

3. शुक्लरक्तावभासानिरक्तपर्य्यन्तानिरक्तशिराराजीसन्ततान्युसेधवन्ति-
बहुबहलरक्तपूयलसीकानिकण्डूक्रिमीदाहपाकवन्त्याभुगतिसमुत्थान-
भेदीनिपुण्डरकिपलाशसंकाशानिपुण्डरीकाणीतिविद्यात्॥
—च॰ सं॰, अ॰ 5, श्लो॰ 14

है, यह रोग चिकित्सा के बिना नष्ट न होने वाला, आर्द्र, स्वेदयुक्त उमड़े हुए मण्डल के समान और परस्पर मिला हुआ होता है। उसे मण्डल कुष्ठ कहते हैं। यह कुष्ठसाध्य होता है।[1]

'चरकसंहिता' के अनुसार मण्डल कुष्ठरोग के लक्षण में चिकना, भारी, ऊँचा, मधुर, दृढ़ तथा किनारों पर मोटा, श्वेत और लालवर्ण का बहुत बहाव करने वाला और वह बहाव श्वेत तथा पिच्छलवर्ण का स्राव वाला और सफेद रोमों से युक्त होता है। इस कुष्ठ में अधिक खाज होती है और कीड़े भी पड़े होते हैं। त्वचा के सब मण्डल देर से फैलने वाले, देर से उत्पन्न होने वाले तथा देर में फटने वाले होते हैं। इसलिए गोल-गोल मण्डलों वाले कुष्ठ को मण्डल कुष्ठ कहते हैं।[2]

7. **ऋक्षजिह्वक कुष्ठरोग :-**

भावप्रकाश में वर्णित ऋक्षजिह्वक कुष्ठरोग के लक्षण में त्वचा में कठिन कुष्ठ, अन्त में रक्तवर्ण का, बीच में धूम्रवर्ण का वेदना युक्त होता है और रीछ की जिह्वा के समान आकृति वाला होता है।[3]

'चरकसंहिता' में ऋक्षजिह्वक रोग के लक्षण में कुष्ठ का बाहर का भाग

---

1. श्वेतरक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्।
कृच्छ्रमन्योऽन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 20
2. जीसन्तानानिबहुकण्डूक्रिमीणिसक्तगतिसमुत्थान-
भेदीनिपरिमण्डलानिमण्डलकुष्ठानीतिविद्यात्॥
—च० सं०, अ० 5, श्लो० 12
3. कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम्।
यदृक्षजिह्वासंस्थानमृक्षजिह्वं तदुच्यते॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 24

लालवर्ण का और भीतर का भाग काला, नीला, पीला एवं ताम्रवर्ण का होता है। यह रोग शीघ्र फैलने वाला और शीघ्र उत्पन्न होने वाला होता है। इसके साथ खाज, कृमि, दाह, भेद, निस्तोद एवं अधिक पकने वाला सूई-सी चुभन की पीड़ा से युक्त, बीच का भाग अधिक ऊँचा नहीं होता है और किनारें पतले होते हैं, छोटी-छोटी कठोर फुंसियों से युक्त होते हैं जिसमें लम्बे-लम्बे मण्डल होते हैं, वह मण्डल रीछ की जीभ के समान होते हैं।[1]

'भावप्रकाश' के अनुसार ये सात महाकुष्ठ कहलाते हैं।

इसके पश्चात् 'भावप्रकाश' में 8-18 (ग्यारह) क्षुद्र कुष्ठरोग के लक्षण इस प्रकार है :-

8. **एककुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' के अनुसार एककुष्ठरोग के लक्षण में इस कुष्ठ में पसीना, अधिक नहीं आता है। अधिक फैला हुआ होता मछली के चमड़े के समान होता है।[2]

---

1. परुषाण्यरुणवर्णानिवहिरन्तः श्यावानिनीलपीतताम्रावभासा-
न्याशुगतिसमुत्थानान्यल्पकण्डूक्लेदक्रिमीणिदाहभेदनिस्तो-
दपाकबहुलानिशूकोपहतोपमानवेदनान्युत्सन्नमध्यानितनुप-
र्व्यन्तानिकर्कशपिडकाचितानिदीर्घपरिमण्डलानि ऋष्यजिह्वा-
कृतीनिऋष्यजिह्वानीतिविद्यात्॥
—च॰ सं॰, अ॰ 5, श्लो॰ 13
2. अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्।
तदेककुष्ठं चर्माख्यं बहलं गजचर्मवत्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 34, श्लो॰ 25

'भावप्रकाश' में जो कुष्ठ कण्डूयुक्त, श्यामवर्ण तथा अत्यन्त स्रावयुक्त छोटी-छोटी फुन्सियों से व्याप्त होता है। उसे विचर्चिका कुष्ठ कहते हैं।[1]

12. **पामा कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' के अनुसार स्रावयुक्त, दाहयुक्त तथा कण्डूयुक्त जो अधिक संख्या में छोटी-छोटी पिडिकाएँ होती हैं, उन्हें पामा कहते हैं। फुन्सियाँ पीड़ा करती हैं, इसलिए फुन्सियों को पिडका कहते है।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित कण्डू, क्लेद और पीड़ा से व्याप्त पिटिकाओं को पामा कहते हैं। ये सूक्ष्म, श्याम, अरुण वर्ण की होती हैं। प्रायः यह हाथ, नितम्ब, कोहनी में होता है।[3]

13. **कच्छू कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' के अनुसार कच्छू कुष्ठरोग में पामा रोग हाथों और स्फिक् प्रदेश में होता है तथा बड़े-बड़े फफोलों से तीव्र वेदना से व्याप्त होता है और उग्र स्वरूपवाला होता हैं।[4]

'सुश्रुतसंहिता' में जिस समय पामा कुष्ठरोग नितम्ब, हाथ और पाँव में उत्पन्न

1. सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका॥
—भा० प्र० चि० नि०, अ० 54, श्लो० 11

2. सूक्ष्मा बह्वयः स्राववत्यः प्रदाहाः प्रामेत्युक्ताः पिडकाः कण्डुमत्यः॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 29

3. पिटिकाः पामा कण्डूक्लेदरूजाधिकाः।
सूक्ष्माः श्यावारुणा बह्वय प्रायः स्फिक्पाणिकूर्परे॥
—अ० हृ० नि० स्०, अ० 14, श्लो० 27

4. सैव स्फोटस्तीवदाहैरूपेया ज्ञेया पाण्योः कच्छुरूग्रा स्फिोश्च॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 30

हो जाये और त्वचा मे बड़े-बड़े छाले-पिड़कायें काले रंग के उत्पन्न होते हैं। इनमें जलन और खाज भी होती हैं।[1]

14. **दद्रु कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में दद्रु कुष्ठरोग के लक्षण में कण्डू तथा लाल फुन्सियों से युक्त मण्डलाकार उत्पत्ति वाला होता है और ऊपर से सूजा हुआ क्षुद्रकुष्ठ होता है उसे दद्रु कुष्ठ कुष्ठ कहते हैं।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार इस रोग में दूब के समान लम्बे प्रतान वाला, अलसी के फूल की तरह कान्ति वाला, उन्नत मण्डल कण्डूयुक्त तथा लम्बे समय तक रहने वाला तथा निरन्तर मिला हुआ फैलने वाला रोग दद्रु कुष्ठ कहलाता है।[3]

15. **विस्फोट कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में वर्णित इस रोग के लक्षण में श्याम, लालिमायुक्त और पतली त्वचा के फफोले होते हैं।[4]

1. सास्रावकण्डूपरिदाहकाभिः पामाऽणुकाभिः पिडकाभिरूह्या।
स्फौटेः सदाहैरति सैव कच्छ्रू स्फिक्पाणिपादप्रभवैर्निरूप्या॥
—सु॰ सं॰ नि॰ स्०, अ॰ 5, श्लो॰ 14
2. सकण्डूरागपिडकं दद्रूर्मण्डलमुद्गतम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰, अ॰ 54, श्लो॰ 31
3. दीर्घप्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छविः।
उत्पन्नमण्डला दद्रूः कण्डूमत्यनुषङ्गिणी॥
—अ॰ हृ॰ नि॰ स्०, अ॰ 14, श्लो॰ 28
4. स्फोटः श्यावारूणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 32

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार विस्फोट कुष्ठरोग पतली त्वचा वाला सफेद और अरूण छांलों से भरा होता है।[1]

16. **किटिभ कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में किटिभ कुष्ठरोग के लक्षण में काले, रुखे, और स्पर्श में सूखे हुए के लक्षण में काले रूखे और स्पर्श में सूखे हुए व्रणस्थान के समान कर्कश प्रतीत होती है।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' में किटिभ कुष्ठरोग में किटिभ रूखा होता है, किण की भाँति कर्कश, स्पर्श वाला, कण्डू युक्त, कठोर और काला होता है।[3]

17. **अलसक कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में क्षुद्रकुष्ठ कण्डूयुक्त होता है और लालवर्ण की बड़ी-बड़ी फुन्सियों से युक्त होता है।[4]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार अलसक कुष्ठ लाल और कण्डूयुक्त गण्डों से भरा होता है।[5]

---

1. तनुत्वग्भिश्चितं स्फोटैः सितारूणैः।
—अ० हृ० चि० प्र०, अ० 14, श्लो० 27
2. श्यामं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 33
3. किटिभं पुनः।
रुक्षं किणखरस्पर्शं कण्डूमत्परूषासितम्॥
—अ० हृ० नि० स्०, अ० 14, श्लो० 20
4. कण्डूभद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 34
5. गण्डेः कण्डूयुतैश्चितम्॥
—अ० हृ० नि० स्०, अ० 14, श्लो० 22

18. **शतारू कुष्ठरोग :-**

'भावप्रकाश' में वर्णित शतारू कुष्ठरोग के लक्षण में क्षुद्रकुष्ठ रक्तिमायुक्त श्याम वर्ण का होता है, दाह सम्बन्धी वेदना से युक्त और बहुत घावों से युक्त होता है।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में शतारू कुष्ठरोग के लक्षण में मूल में मोटा, दाह और वेदनायुक्त होता है। लाल या श्यामवर्ण, बहुत व्रणों से युक्त, क्लेद एवं जन्तु से व्याप्त और प्रायः पर्वो में उत्पन्न होने वाला होता है।

त्वचा में कुष्ठरोग की चिकित्सा :-

त्वचा में कुष्ठरोग की चिकित्सा कई प्रकार से होती हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार हैं :-

'भावप्रकाश' के अनुसार अठारह प्रकार के कुष्ठरोग कपाल, औदुम्बर, सिध्म, काकणक, पुण्डरीक, मण्डल, ऋक्षजिह्वक, एक कुष्ठ, गजचर्म, चर्मदल पामा, कच्छू, दद्रु, विस्फोट, किटिभ, अलसक, शतारू की चिकित्सा के लिये सोलह तोले वाकची के बीज, चार तोले खैरसार और परवल की जड़, हरड़, बहेड़ा आँवला, त्रायमाण, जवासा तथा कुटकी इन औषधियों को 1-1 तोले लेकर पीसकर कल्क बनाये और उसमें सात तोले गुग्गुलु मिलायें। कल्क से घृत को सिद्ध कर 'सोमराजी' नामक घृत सिद्ध होता है। यह अठारह प्रकार के कुष्ठों की परमौषध है।[2]

---

1. रक्तश्यावं सदाहर्त्ति शतारूः स्याद् बहुव्रणम्॥
   —भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 35
2. चतुष्पल सोमराज्याः रूदिरस्य पलं तथा।
   पटोलमूलं त्रिफला त्रायमाणा दुरालभा॥
   कल्कार्थं कटुकं चापि कार्षिकान्सूक्ष्मपेषितान्।
   पलद्वयं कौशिकस्य शुद्धस्पात्र प्रदापयेत्॥
   —भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 156-159

'चक्रदत्त' में वर्णित अठारह प्रकार के कुष्ठरोग की चिकित्सा के लिये बकुची, हल्दी, दारूहल्दी सरसों के बीज, अमलतास का गूदा, कूठ करञ्ज के बीज तथा पवांड के बीज अमलताश के पत्ते इनका कल्क (1 सेर), कटु तेल (4 सेर), जल 16 सेर, गोमूत्र 4 सेर लेकर पाक करना चाहिए। इसे लगाने से नाड़ी व्रण, बिकृत वर्ण, अठारह प्रकार के कुष्ठ, नीलिका, पिप्लु, झाई भयङ्कर वातरक्त, कण्ठू, न्यच्छ, कच्छ्रू, पामा आदि अनेक रोग दूर होते है।[1]

सिध्म कुण्ठ रोग :-

'भावप्रकाश' के अनुसार सिध्म कुष्ठरोग की चिकित्सा के लिये कूठ, मूली के बीज, फूलप्रियङ्ग, सरसों, हल्दी तथा नागकेशर इन छः औषधियों को पीसकर लेप करने से बहुत दिनों का पुराना सिध्म रोग नष्ट होता है।[2]

'चक्रदत्त' में वर्णित सिध्म कुष्ठरोग की चिकित्सा में शुद्ध गन्धक और जवाखार इनको सरसों के तेल में मिलाकर लेप करने से सिध्म रोग शीघ्र दूर होता है।[3]

---

1. सोमराजी हरिद्रे द्वे सर्षपारग्वधं गदम्।
करञ्जैउगजाबीजं पत्रमारग्वधस्य च॥
चतुर्गुणं जलं दत्त्वा गोमूत्रप्रस्थसंयुतम्।
विपचेत् सार्षपं तैलं नाडीदुष्टव्रणापहम्॥
अनेनाशु प्रणश्यन्ति कुष्ठान्यष्टादशैव तु।
नीलिका पिप्लवो व्यङ्गा गम्भीरं वातशोणितम्।
कण्डून्यच्छप्रशमनं कच्छूपामाविनाशनम्॥
—च० द०, अ० 50, श्लो० 163, 164
2. कुष्ठं मूलकबीजं प्रियङ्गवः सर्षपास्तथा रजनी।
एतत्केशरषष्टं निहन्ति चिरकालजं सिध्मम्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 54, श्लो० 127
3. गन्धपाषाणचूर्मेन यवक्षारेण पेषितम्।
सिध्म नाशं व्रजत्याशु कहुतैलयुतेन वा॥
—च० द०, अ० 50, श्लो० 27

चर्मदल कुष्ठरोग :–

'भावप्रकाश' में इस रोग की चिकित्सा सूखे हुए आँवलों को पानी के साथ हाथों से घिसकर प्रलेप करने से चर्मदल कुष्ठ से पीड़ित मनुष्य सुख का अनुभव करता है।[1]

मण्डल, द्रदु कुष्ठरोग :–

'चक्रदत्त' के अनुसार पवाड के बीज, कूठ, सौवीराञ्जन, सेंधा नमक, सरसों के बीज तथा वायविडंग इनको सम परिणाम में लेकर गोमूत्र में पीस कर लेप करने से क्रिमि, सिध्म, दद्रु तथा मण्डल कुष्ठ नष्ट होता हैं।

कपाल कुष्ठरोग :–

'चक्रदत्त' में मूली और सरसों के बीज, लाख, हल्दी, पवांड़ के बीज, गन्धाविरोज, त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) वायुविडङ्ग तथा कूठ इनके चूर्ण को गोमूत्र में पीस कर लेप करने से हर एक दद्रु, सिध्म, किटिम, पामा और भयंकर कपालकुष्ठ ये सब रोग कष्ट हो जाते हैं।[2]

---

1. सलिलेन तु शुष्काणि घृष्ट्वा धात्रीफलानि च।
   कराभ्यां सुखमाप्नोति नरश्चर्मदलान्वितः॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 132
2. एडकुष्ठसौवीरसैन्धवसर्षयैः क्रिमिघ्नैश्च।
   क्रिमिसिध्मदद्रुमण्डलकुष्ठानां नाशनो लेपः॥
   बीजानि व मूलकसर्षपाणां लाक्षारजन्यौ प्रपुनाडबीजम्।
   श्रीवेष्टकव्योषविडङ्गकुष्ठं पिष्ट्वा च मूत्रेण तु लेपनं स्यात्॥
   दद्रुणि सिध्मं किटिमाणि पामां कपालकुष्ठं विषमञ्च धन्यात्॥
   —च॰ द॰, अ॰ 50, श्लो॰ 35, 34

पामा कुष्ठरोग :–

'भावप्रकाश' में पामा कुष्ठरोग की चिकित्सा मरीठ, हरड, आँवला, लाख, कलिहारी, हल्दी तथा गन्धक इनके कल्क के साथ पकाया हुआ आदित्यपाक नाम तेल से पामा कुष्ठरोग दूर होता है।[1]

कच्छू कुष्ठरोगः–

'चक्रदत्त' के अनुसार कच्छू रोग की चिकित्सा में अडूसे के नवीन पत्र और हल्दी को समान मात्रा में लेकर गोमूत्र से पीसकर तीन दिन तक लेप करने से कच्छू रोग दूर होता है।[2]

विस्फोट, किटिम, विचर्चिका, कच्छू, किटिभ :– 'चक्रदत्त' में वर्णित इन रोगों की चिकित्सा के लिये करञ्ज के बीज, हल्दी, दारूहल्दी, मदार का दूध, कनेर की जड़, दुधिया वच, कूठ आस्फोता, लालचन्दन, चमेली की पत्ती, छतिवन की छाल, मंजीठ और सम्भालू के पत्ते — इन औषधियों के कल्क दो तोले, शुद्ध वत्सनाभ, चार तोले तेल, एक प्रस्थ और तेल का चौगुना गोमूत्र मिलाकर तेल का लेप करना चाहिये। इस तेल के लगने से श्वित्र, विस्फोट, किटिभ, कीट विष, मकड़ी का विष, विचर्चिका, खाज, कच्छू तथा जो विष से दूषित व्रण हैं, वे सब नष्ट हो

---

1. मञ्जिुष्ठात्रिफलालपाक्षालाङ्गलीरात्रिगन्धकैः।
चूर्णितैस्तैलमादित्यपाकं पामाहरं परम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 54, श्लो॰ 134
2. कोमलसिंहास्यदलं सनिशं सुरभीजलेन सम्पिष्टम्।
दिवसत्रयेण नियतं क्षपयति कच्छूं विलेपनतः॥
—च॰ द॰, अ॰ 50, श्लो॰ 43

जाते हैं। तथा सब प्रकार के व्रण शुद्ध होते हैं।[1]

पुण्डरीक कुष्ठरोगः– बहेड़े की छाल तथा काकोदुम्बरिका (कठूमर) की जड़ इनके क्वाथ (काड़े) में गुड़ मिलाकर वाकुची के चूर्ण के पीने से पुण्डरीक कुष्ठ नष्ट होता है।[2]

(च) त्वक् को स्वस्थ रखने के घरेलू उपचार :–

1. हल्दी (Turmeric) :–

हल्दी का चूर्ण गोमूत्र के साथ मिलाकर खाया जाये एवं हल्दी के साथ मक्खन को मिलाकर उस स्थान पर लेप करने से खुजली, दद्रु (दाद), फोड़े एवं चर्म आदि रोगों के लिए बहुत लाभदायक है।

2. प्याज़ (Onion) :–

प्याज़ के रस को सरसों के तेल में मिलाकर लगाने से त्वचा के रोग में लाभ होता है।

---

1. नक्तमालं हरिद्रे द्वे अर्कं तगरमेव च।
करवीरं वचा कुष्ठमास्फोता रक्तचन्दलम्॥
मालती सप्तपर्णञ्च मञ्जिष्ठा सिन्धुवाटिका।
एषामर्द्धपलान् भागान् विषस्यापि पलं भवेत्॥
चतुर्गुणे गवां मूत्रे तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
श्वित्रविस्फोटकिटिमकीटलूताविचर्चिकाः॥
कण्डूकच्छूविकाराश्च ये व्रणा विषदूषिताः।
विषतैलमिदं नाम्ना सर्वव्रणविशोधनम्॥
—च० द०, अ० 50, श्लो० 143–149

2. विभीतकत्वङ्मलयूजटानां क्वाथेन पीतं गुडसंयुतेन।
आवल्गुजं बीजमपाकरोति श्चित्राणि कृच्छ्राव्यपि पुण्डरीकम्॥
—भा० प्र०, अ० 54, श्लो० 150

3. नीम (Neem) का पेड़ :-

नीम का पेड़ हमारे लिए एक महत्त्वपूर्ण औषधि का काम करता है। इसकी पत्तियों का प्रयोग त्वचा के विकारों, व्रण और कुष्ठ में किया जाता है। नीम की पत्तियों के पानी से स्नान करने से चर्म विकारों में लाभ मिलता है। इसकी पत्तियों को आँवले में पीस कर खाने से ~~खाने से~~ कुष्ठ में लाभ होता है तथा इसका तेल भी त्वचा के अन्य रोगों में लाभकारी होता है।[1]

1. भा० प्र० नि०, पृ० 66, 113, 928

चतुर्थ अध्याय

चक्षुरोग एवं निदान

चतुर्थ अध्याय

(क) शरीर में चक्षु का स्थान

चक्षु का सामान्य परिचय :

शरीर में सब देवताओं का वास है। इसमें आँखों को सर्वश्रेष्ठ सूर्य का प्रतिनिधि कहा गया है। जिस प्रकार सूर्य सबको देखता है या सूर्य के प्रकाश से सब दिखाई देता है, उसी प्रकार मनुष्य आँखों से देखता है और आँखें सबको देखती हैं।[1]

चक्षु की बनावट :

हमारे दो चक्षु या नेत्र होते हैं, जो भ्रुओं के नीचे, मध्य में नासिका के दाहिने और बाईं ओर कर्पर में दो गढ़े होते हैं। इन्हें अक्षिखात या नेत्रगुहा कहते हैं। चक्षु हमारे जीवन की दैनिकचर्या में एक बड़ा उपयोगी और परमावश्यक अङ्ग हैं। चक्षु के द्वारा ही हमें प्रकाश का ज्ञान होता है। रंग-रूप, आकारादि का बोध भी हमें इन्हीं (नेत्रों) की सहायता से होता है अर्थात् चक्षु के बिना जीवन का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

चक्षु हमारे जीवन के लिए जितना आवश्यक अंग माने गए हैं, उतने ही उनकी रक्षा का प्रबन्ध भी किया गया है। इसमें अस्थि, पलकें और भ्रु या भौं भी हमारी आँखों की रक्षा के लिए तत्पर रहती हैं।

अस्थि :- अस्थि से बनी हुई कोठरी में नेत्र होता है, नेत्र के अगले भाग को छोड़कर शेष भाग की अच्छी तरह से रक्षा होती है।

पलक :- अगले भाग की रक्षा के लिए दो पलकें होती हैं। जैसे जब कोई व्यक्ति आँख के सामने अँगुली लाता है, तो ये पलकें तुरन्त बन्द हो जाती हैं। सोते

1. अ० हृ०, अ० 2, पृ० 19

समय भी पलकों के बन्द हो जाने से आँखों का अगला भाग सुरक्षित रहता है। पलकों के किनारों पर बाल लगे होते हैं, इन्हें अक्षिलोम कहते हैं। इन बालों से भी आँखों की रक्षा होती है। धूल-मिट्टी के छोटे-छोटे कण इनमें फँस जाते हैं और वायु में उड़ने वाले छोटे-छोटे कीड़े भी बहुधा इनमें (पलकों में) फँसकर आँखों के बाहर ही रहते हैं।

भ्रु या भौं :- अक्षिखात के ऊपर बालों की एक महराव होती है, जिसे भ्रु या भौं कहते हैं। माथे का पसीना भौं के कारण आँखें में जाने से रुक जाता है।

चक्षु उसी समय तक ठीक काम कर सकता है, जब तक सब माध्यम स्वच्छ हों। यदि कनीनिका जलीय द्रव्य, ताल और ताल के पीछे रहने वाले द्रव्य में से कोई भी अस्वच्छ हो जाये, तो दृष्टि में फर्क आ जाता है। जब रोहों की रगड़ से कनीनिका धुँधली हो जाती है या ज़ख्म के परिणाम से उसमें श्वेत अस्वच्छ तिल बन जाता है, तब प्रकाश अच्छी तरह भीतर नहीं जा सकता। वृद्धावस्था में, कभी-कभी बचपन और जवानी में भी ताल के धुँधले हो जाने से भी दृष्टि कम हो जाती है या जाती रहती है। धुँधला ताल निकलवा देने से दृष्टि फिर आ जाती है। दृष्टिपटल, मध्यपटल, दृष्टिनाडी, दृष्टि केन्द्र के रोगों से भी दृष्टि खराब हो सकती है।

40-45 वर्ष की आयु के बाद बहुत से लोगों को पुस्तक इत्यादि पढ़ने में कठिनाई होने लगती है, जैसे छोटी-छोटी चीज़ें साफ-साफ दिखाई नहीं देतीं, चीज़ों को अच्छी तरह देखने के लिए तेज़ प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है।[1]

पूर्व (पहले) समय में पण्डित अपने चक्षु की रक्षा करने वाले पैरों पर तेल

---

1. ह० श० र०, अ० 26, पृ० 656

लगाना हितकारी (अभीष्ट) समझते थे। वे इसको धर्म का अङ्ग मानकर दिन में शौचकार्य के उपरान्त, मूत्रत्याग के उपरान्त या फिर भोजन करने से पहले, कितनी बार अपने पैरों को धोते, पोंछते थे और प्रातः स्नान से पूर्व पैरों पर और उनके तलवों पर तेल की मालिश करते थे। आजकल सुबह उठकर बूट (Shoes) पर पॉलिश (Polish) होगी, परन्तु पैरों पर तेल की मालिश नहीं। सबको जूतों की अधिक चिन्ता रहती है, पैरों की नहीं।[1] पैरों के तलवों से दो शिराएँ ऊपर की ओर जाती हैं, जो प्रायः चक्षुओं तक चली गई हैं। इसलिए पैरों के तलवों में सेचन, मालिश, उबटन और लेप जो कुछ भी प्रयोग किया जाता है, उसे ये शिराएँ (नसें) नेत्रों तक ले जाती हैं। गर्मी, गन्दगी, रगड़ या घिसने तथा दबाने आदि से ये शिराएँ दूषित होकर[2] विभिन्न चक्षुरोग के कारण उत्पन्न करती हैं।

(ख) चक्षुरोग के विभिन्न कारण :

1. 'नेत्र रोग चिकित्सा' के अनुसार नेत्र रोगों को उत्पन्न करने वाले मुख्यतः तीन उपसर्ग (Infections) मुख्य हैं :-

    (i) जीवाणुज (Bacterial)

    (ii) विषाणु (Virus)

    (iii) कवक (Fungi)[3]

---

1. खरत्वं स्तब्धतारौक्ष्य श्रमः सुप्तिश्चपादयो।
सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात्। —अ० हृ०, अ० 2, पृ० 20
2. द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे शिरोगते ते बहुधा हि नेत्रे।
ताः प्रोक्षणोत्सादनलेपनादीन्पादप्रयुक्तान्यनं नयन्ति॥
मलोष्मसंघट्टनपीनाद्यैस्ता दूषयन्ने नयनानि दुष्टाः।
भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मादुपानदभ्यञ्जनयावनानि॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 63, श्लो० 134, 135
3. ने० र० चि०, पृ० 43

2. 'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित नेत्र रोग के कारण हैं — शरीर गर्म होने पर अचानक जल में प्रवेश करने पर, अपनी दृष्टि को दूर रखने अर्थात् परस्पर दूर देखने से, जैसे गाड़ियों के ड्राईवर देखते हैं। नींद न आने से, लगातार रोने, गुस्सा करने या शोक करते रहने से चोट (घाँव) लगने से, अति स्त्री सेवन से, खट्टी, गर्म कुलत्थी-उड़द आदि दालों के सेवन से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से, धूम्रपान, नेत्रों में आए हुए आँसू रोकने से, बारीक काम जिसमें कपड़ों की सिलाई, पीरोना, काढ़ना आदि करने से नेत्रों में दोष उत्पन्न होता है।[1]

3. **'भावप्रकाश' के अनुसार चक्षुरोग को उत्पन्न करने के कारण निम्नलिखित हैं** :- जैसे अत्यन्त गर्मी के कारण बार-बार उष्ण शरीर से ठण्डे पानी से नहाने से, दूर की चीज़ों को देखने से, दिन में अधिक सोने या कम सोने से तथा रात में अधिक जागने तथा कम जागने से, आगादि के सेवन से, आँखों में धूल-मिट्टी इत्यादि के कण पड़ने से, धुआँ लगने से, मल-मूत्रादि के वेग को रोकने अथवा अधिक करने से, अत्यन्त वमन रोकने से, आरनाल नामक काँजी के सेवन से, कुलथी और उड़दी दालों को खाने से, रात-दिन रोते रहने से आँखों को हानि पहुँचती है, इसके साथ ही यदि सिर पर चोट लगी हो, अधिक शोक करने से या फिर अधिक भारवाली सवारी पर चढ़कर यात्रा करने से (जैसे ऊँट, हाथी आदि) करने

---

1. उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाददूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोक क्लेशाभिघातायतिमैथुनाच्च॥
शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाषविषेवणाद्वेगविनिग्रहाच्च।
स्वेदादथो धूम निषेवणाच्च छर्देविघाताद्वमनातियोगात्॥
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषा।
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 1, पृ॰ 601, श्लो॰ 26, 27

से नेत्रों को हानि पहुँचती है। इसके साथ 'भावप्रकाश' में नेत्ररोग के और भी कारण बताये गए हैं।[1]

(ग) चक्षु का आकार :

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार चक्षु का आकार इस प्रकार है – अपने अँगूठे के मध्य भाग के बराबर जो अंगुल हैं, उन दो अँगुल के बराबर चक्षु बुद्बुद (डेला) के अन्दर नेत्र प्रविष्ट है। अढ़ाई अँगुल के बराबर अक्षिगोलक की लम्बाई और चौढ़ाई होती है।[2]

'भावप्रकाश' के अनुसार नेत्र में पाँच मण्डल होते हैं।

1. पक्ष्ममण्डल (Eyelash)
2. वर्त्ममण्डल (Eyelid)
3. श्वेतमण्डल (Sclera)
4. कृष्णमण्डल (Cornea)
5. दृष्टिमण्डल (Retina)[3]

'सुश्रुतसंहिता' में भी इस प्रकार नेत्रों के पाँच मण्डल बताए गए हैं – 1. पक्ष्ममण्डल, 2. वर्त्ममण्डल, 3. श्वेतमण्डल, 4. कृष्णमण्डल और 5.

1. उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद् दूरेक्षणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात्॥
शुक्तारनालाम्नुकुलत्थमाषाद्विण्मूत्रवातागमनिग्रहाच्च।
प्रसक्तसंरोदनशोकतापाच्छिरोऽभिघातादति शीघ्रयानात्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 615, श्लो॰ 7, 8

2. विद्याद्द्वयङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम्।
द्वयङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्॥
—सु॰ सं॰, अ॰ उ॰ 1, पृ॰ 599, श्लो॰ 10

3. पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वन्तु ते मध्याश्चत्वचारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 625, श्लो॰ 2

दृष्टिमण्डल। यह मण्डल आनुपूर्विक कर्म से अन्दर की ओर हैं। अर्थात् सबसे बाहर पक्ष्मण्डल उसके आगे वर्त्ममण्डल, उसके बाद श्वेतमण्डल, फिर कृष्णमण्डल और सबसे पीछे दृष्टिमण्डल होता है।[1]

(घ) चक्षुरोग के प्रकार एवं लक्षण :

'भावप्रकाश' के अनुसार नेत्र रोग अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें नाम एवं लक्षण इस प्रकार हैं —

1. **अभिष्यन्द** :– यह रोग चार प्रकार का होता है — (क) वाताभिष्यन्द, (ख) पित्ताभिष्यन्द, (ग) कफाभिष्यन्द, (घ) रक्ताभिष्यन्द ये चार भयंकर अभिष्यन्द रोग हैं, नेत्राभिष्यन्द का अर्थ आँख का उठना या आँख आना है; जिनसे प्रायः सभी प्रकार के नेत्र रोग उत्पन्न होते हैं।[2] इन चारों अभिष्यन्दों के लक्षण प्रायः इस प्रकार हैं :—

वाताभिष्यन्द :– 'भावप्रकाश' में वर्णित इस रोग में आँखों में सूई चुबने की वेदना, जैसा प्रतीत होना। नेत्रों में जकड़न-सी प्रतीत होती हैं। आँखें शुष्क तथा कीचड़ का अधिक न आना, सिर में पीड़ा होना और आँखों से ठण्डे आँसू बहना— ये सब वाताभिष्यन्द के लक्षण हैं।[3]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार इस रोग के लक्षण इस प्रकार हैं —

जिस रोग में नासारन्धों में बाधा हो तथा थोड़ी-सी शोथ (सूजन) हो, भौं तथा

---

1. पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
   अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥
   —सु॰ सं॰, अ॰ उ॰ 1, पृ॰ 600, श्लो॰ 15
2. वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः।
   प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 645, श्लो॰ 116
3. निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारूष्याशिरोऽभितापाः।
   विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्नै नयने भवन्ति॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 645, श्लो॰ 117

माथे में पीड़ा हो, सिर फटने की सी पीड़ा हो, आँखें शुष्क और आँखों में कीचड़ का अधिक न आना, ठण्डे आँसू का बहना, नेत्र का कठिनाई से खोलना एवं बन्द करना, चींटी आदि के रेंगने सा प्रतीत होना, आँख भरी हुई सी प्रतीत होना, स्निग्ध और गर्म उपायों से शान्त होना, यह सब लक्षण 'वाताभिष्यन्द' के हैं।[1] 'सुश्रुतसंहिता' में भी 'वाताभिष्यन्द' के उपर्युक्त लक्षण मिलते हैं।[2]

पित्ताभिष्यन्द :– 'भावप्रकाश' के अनुसार इस रोग में नेत्रों में जलन और पकाव होता है। शीतल वस्तुओं की इच्छा होती है, नेत्रों से जैसे धुआँ निकलता हुआ प्रतीत होता है। नेत्रों से उष्ण आँसू निकलते हैं और नेत्र पीले हो जाते हैं।[3]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार इस रोग में चक्षुओं में दाह होती, ऐसा प्रतीत होता है कि नेत्रों से धुआँ निकल रहा है, शोथ (सूजन), वर्त्मों के बाहर कालापन, आँखों के अन्दर क्लेद, उष्ण, शुष्क, पीले आँसू और नेत्रों का रंग पीला सा दिखाई देता है, यह सब लक्षण 'पित्ताभिष्यन्द' के हैं।[4]

---

1. वातेन नेत्रोऽभिष्यण्णे नासाहोऽल्पशोफता।
शङ्खाक्षिभ्रूललाटस्य तोदस्फुरणभेदनम्॥
शुष्काल्पा दूषिका शीतमच्छं चाश्रु चला रूजः।
निमेषोन्मेषणं कृच्छ्राज्जन्तूनामिव सर्पणम्॥
अक्ष्याध्मातमिवाभाति सूक्ष्मैः शल्यैरिवाचितम्।
स्निग्धोष्णेश्चांपशमनं सोऽभिष्यन्दः उपेक्षितः॥
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 15, पृ० 502, श्लो० 1, 2, 3

2. निस्तोदनं स्तम्भनरोमहर्ष सङ्घर्षपारूष्यशिरोभिरोतापाः।
विशष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति॥
—सु० सं०,अ० उ० 6, पृ० 608, श्लो० 6

3. दाहः प्रपाकः शिशिराभिवनन्दा धूमायानं वाष्पसमुद्रवश्व।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 63, पृ० 646, श्लो० 118

4. दाहो धूमापनं शोफः श्यावता वर्त्मनो बहिः।
अन्तः क्लेदोऽश्रु पीतोष्णं रागः पौताभदर्शनम्॥
क्षारोक्षितक्षताक्षित्वं पित्ताभिष्यन्दलक्षणम्।
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 15, पृ० 502, श्लो० 8

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार पित्ताभिष्यन्द रोग में आँख लाल रेखाओं से भरी स्रावयुक्त, मानों आँखों में अग्नि जल रही हो। नेत्र यकृत पिण्ड के समान अर्थात् जलन से आँखें लाल-काली हो रही हों और ऐसी जलन पड़ती है मानों घाव पर नमक मल दिया हो। नेत्र पका हुआ, किनारों से सूजा हुआ, पसीने से आँख भरी हुई और पीली दीखती है। इसके साथ रोगी को बेहोशी, सिर में दर्द भी रहती है।[1]

कफाभिष्यन्द :- 'भावप्रकाश' के अनुसार रोगी को उष्ण वस्तुओं में रूचि रहती है, चक्षु भारी रहती हैं। नेत्रों में शोथ के साथ खुजली भी होती हैं, दूषिका (कीचड़) के आने से नेत्रों में चिपचिपापन, अधिक शीतलता और स्निग्धता प्रतीत होती है, यह कफाभिष्यन्द के लक्षण हैं।[2]

'सुश्रुतसंहिता' में इस रोग में रोगी की आँखें सूजी हुईं, अधिक लाल न होने पर भी, स्राव एवं कण्डूयुक्त, ठण्डी, भारी और गीध से युक्त, रोमांचता से, खड़े पलकों के बालों से युक्त होती है। कठिनाई से रूप को देखती है और जो देखती है वह धुंधला-धूल से भरा मैला देखती है। इसमें नासा का आध्मान और सिर में वेदना भी रहती है।[3]

1. रक्तराजिचितं स्त्रावि वह्निनेवावदह्यते।
यकृत्पिण्डोपमं दाहि क्षारेणाक्तमिव क्षतम्॥
प्रपक्वोच्छूनवर्त्मान्तं सस्वेदं पीतदर्शनम्।
मूर्च्छाशिरोदाहयुतं पित्तेनाक्ष्यधिमन्थितम्॥
—सु० सं०, अ० उ० 6, पृ० 608, श्लो० 14, 15

2. उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च।
स्रवो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति।
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 63, पृ० 646, श्लो० 119

3. शोफवन्नातिसंरब्धं स्रावकण्डूसमन्वितम्।
शैत्यगौरवपैच्छिल्यदूषिकाहर्षणान्वितम्॥
रूपं पश्यति दुःखेन पांशुपूर्णमिवाविलम्।
नासाध्मानशिरोदुःखयुतं श्लेषमाधिमन्थितम्॥
—सु० सं०, अ० उ० 6, पृ० 609, श्लो० 16, 17

‘अष्टाङ्गहृदय’ में इस रोग के लक्षण इस प्रकार से वर्णित मिलते हैं। चक्षु में कफाभिष्यन्द रोग में कृष्ण (काला) भाग दबा हुआ और श्वेत (सफेद) भाग ऊपर को उठा हुआ होता है। आँखों में भारीपन, नाक का फूलना और धूल से भरी हुई सी आँख लगती है।[1]

रक्ताभिष्यन्द :– इस रोग के लक्षण ‘भावप्रकाश’ में इस प्रकार हैं। चक्षुओं से लाल रंग का पानी अर्थात् अश्रु बहते हैं। चक्षु (नेत्र) लाल हो जाते हैं। नेत्रों में लाल रंग की रेखायें फैली हुई दिखाई देती हैं और पित्ताभिष्यन्द के जो लक्षण बनाए गए हैं, वह लक्षण भी इस रोग में पाए जाते हैं।[2]

‘अष्टाङ्गहृदय’ के अनुसार भी रक्ताभिष्यन्द नेत्र रोग में लाल अश्रु अर्थात् आँखों से लाल अश्रु बहते हैं, आँखों में लाल रेखाएँ, नेत्रों से लाल मल निकलता है अर्थात् प्रातः जब हम जागते हैं, तो उस समय जो नेत्रों में गन्दगी होती है, उसे दूषिका (कीचड़) कहते हैं, वह भी लाल रंग का होता है। वस्तुएँ भी लाल रंग की दिखती हैं, साथ ही इसमें पित्ताभिष्यन्द के लक्षण होते हैं।[3]

रक्ताभिष्यन्द के लक्षण ‘सुश्रुतसंहिता’ के अनुसार इस प्रकार हैं — चक्षु दुपहरिया फूल के समान अर्थात् दोपहर के समय तेज़ धूप के कारण लाल हुई, धुंधलापन एवं देखने में असमर्थ, लाल अश्रु, आँखों में चुबन और आँखों से ऐसा

---

1. अधिमन्थे नतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम्।
प्रसेको नासिकाध्मानं पांशुपर्णमिवेक्षणम्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 15, पृ॰ 503, श्लो॰ 11

2. ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 646, श्लो॰ 120

3. रक्ताश्रुराजीदूषीकाररक्तमण्डलदर्शनम्।
रक्तस्यन्देन नयनं सपित्तस्यन्दलक्षणम्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 15, पृ॰ 503, श्लो॰ 12

प्रतीत होता है कि चारों तरफ आग लगी हो, आँख का कृष्ण भाग रक्त में लाल किये अरीठें की तरह दिखती है। दाहयुक्त एवं किनारे लाल रहते हैं।[1]

2. **अधिमन्थ :-** 'भावप्रकाश' में वर्णित उपर्युक्त चारों अभिष्यन्दों (वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द, रक्ताभिष्यन्द) की यदि उचित समय पर चिकित्सा नहीं की जाती है, तो वह बढ़कर अधिमन्थ का रूप धारण कर लेते हैं। इस रोग में चक्षुओं में अधिक तीव्र पीड़ा होती है। अधिमन्थ रोग भी अभिष्यन्द रोग की तरह ही चार प्रकार (वात्तज, पित्तज, कफज और रक्तज) का होता है।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' में इस रोग के लक्षण इस प्रकार हैं — इस रोग में चक्षु के किनारे लाल रंग के होते हैं, जो उखाने पर वेदना (दर्द), दुपहर के फूल के समान लाल तथा सिकुड़े हुए होते हैं। इस रोग से ग्रस्त आँखें किसी स्पर्श को सहन नहीं करती और इसका काला भाग रक्त में भिगोये रीठे के फल जैसा होता है। आँखों से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सभी वस्तुओं मानों अग्नि में चमक रही है।[3]

'भावप्रकाश' के अनुसार अधिमन्थ रोग के लक्षण में सिर में तीव्र वेदना होती है। यह लक्षण अभिष्यन्द से भिन्न है। इसके अतिरिक्त जिस अभिष्यन्द से

1. बन्धुजीवप्रतीकाशं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम्।
रक्तास्रावं सनिस्तोदं पश्यत्यग्निनिमा दिशः॥
रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते।
यद्दीप्तं रक्तपर्यन्त तन्दक्त्तेनाधिमन्थतम्॥
—सु॰ सं॰, अ॰ उ॰ 6, पृ॰ 609, श्लो॰ 18, 19

2. वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैराणामक्रियावाताम्।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 646, श्लो॰ 121

3. मन्थेऽक्षि ताम्रपर्यन्तमुत्पाटनसमानरूक।
रोगेण बन्धूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम्॥
असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम्।
अधिमन्पा यथास्वं च सर्वे स्पन्दाधिकव्यथाः॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्०, अ॰ 15, पृ॰ 503, श्लो॰ 13, 15

जिस अधिमन्थ की उत्पत्ति होती है, उसमें उसी अभिष्यन्द के लक्षण होते हैं चारों अभिष्यन्दों के जो लक्षण कहे गए हैं, वहीं लक्षण क्रमशः चारों अधिमन्थों में भी होते हैं।[1]

3. **सशोथपाक :–** इस रोग में 'भावप्रकाश' में वर्णित सशोथपाक के लक्षण हैं — नेत्रों में खुजली और जलन होती है। नेत्रों से आँसू बहते हैं, आँखें चिपकें अर्थात् नेत्रों की पलकें एक–दूसरे से चिपक जाती हैं तथा नेत्र पके गूलर नामक फल के समान पक जाते हैं, अर्थात् नेत्र गोलक में शोथ रहता है। उसे 'सशोथ-अक्षिपाक' कहते हैं।

उपर्युक्त 'सशोथ' के जो लक्षण कहे गए हैं, पाक के अतिरिक्त अन्य सभी लक्षण हों, उस रोग को 'अशोथ अक्षिपाक' कहते हैं।[2]

'सुश्रुतसंहिता' में सशोथपाक रोग के लक्षण इस प्रकार हैं — नेत्र पाक में गीध का अधिक आना, पके हुए गूलर फल के समान नेत्र लाल होते हैं। नेत्रों में जलन, रगड़, नेत्र शोथ (सूजन), नेत्रों में लाली और ऐसा प्रतीत होता है कि नेत्रों में किसी (तिनके आदि) की चुभन हैं। नेत्रों के भारीपन के साथ गर्मी अथवा सर्दी के कारण आँसू बहते हैं। इसके साथ नेत्रों की सूजन पक जाती हैं वह 'सशोथपाक' नेत्र रोग कहलाता है।[3]

---

1. उत्पाहयत इवात्यर्थ तथा निर्थ्यतेऽपि।
शिरसोऽर्द्धं तु तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 646, श्लो॰ 122
2. कण्डपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः। संरम्भीपच्यते यस्तु नेत्रपाकः सशोथकः।
शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 647, श्लो॰ 124
3. कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः।
दाहसंघर्षताम्रत्वशोफनिस्तोदगौरवेः॥
जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णशीताम्बु पिच्छिलम्।
संरम्भी पच्यते यश्च नेत्रपाकः स शोफजः॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 6, पृ॰ 609, श्लो॰ 21, 22

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार 'सशोथपाक नेत्र रोग' के लक्षण को 'सशोफ-अक्षिपाक' कहा गया है। यह रोग मिश्रित रक्त वातादि तीनों दोषों से और रक्त से उत्पन्न होता है। इस रोग में नेत्रों में अत्यन्त पीड़ा होती है और नेत्रों में सूजन भी रहती है। नेत्रों का श्वेत भाग पके हुए गूलर के समान हो जाता है। साथ ही नेत्रों के आँसू कभी उष्ण (गर्म), कभी शीत (ठण्डे) बहते हैं और कभी स्वच्छ और कभी गाढ़े बहते हैं।[1]

4. **हताधिमन्थ :-** 'भावप्रकाश' के अनुसार इस रोग के लक्षण इस प्रकार है — जब वातोल्वण अधिमन्थ की चिकित्सा नहीं की जाती अर्थात् वातोल्वण रोग की उचित समय पर उचित चिकित्सा न करने पर अत्यधिक तीव्र वेदना के साथ नेत्र सूखकर नष्ट हो जाते हैं, यह रोग असाध्य है अर्थात् इसकी कोई चिकित्सा नहीं। तो इस रोग को 'हताधिमन्थ' कहते हैं।[2]

'योगरत्नाकर' में भी हताधिमन्थ के वही लक्षण मिलते हैं जो 'भावप्रकाश' में हैं, जिसका वर्णन ऊपर (पंक्तियों में) किया गया है।[3]

---

1. सशोफः स्यात्त्रिभिर्मलैः।
सरक्तैस्तत्र शोफोऽतिरूग्दाहष्ठीवनादिमान्॥
पक्वोदुम्बरसङ्काशं जायते शुक्लमण्डलम्।
अश्रूष्ण शीतविशदपिच्छिलाच्छघनं मुहुः॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 15, पृ॰ 506, श्लो॰ 17, 18
2. शोषयति = शोषयित्वा नाशयति। अत एवाह विदेह :-
'तत्पक्वमिव संशुष्कमवसीदति लोचनम्॥
—भा॰प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 648, श्लो॰ 125
3. उपेक्षणादिक्षि यदाऽधिमन्थों वाताधिकशोषयति प्रसह्य।
रूजाभिरूग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः॥
—यो॰ र॰, अ॰ 13, पृ॰ 723

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित इस रोग के विषय में लिखा गया है कि हताधिमन्थ और अक्षिप्राकात्यय यह दो रोग असाध्य होने के कारण, इनकी चिकित्सा न करें अर्थात् इसकी कोई औषधि ही नहीं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार हताधिमन्थ रोग में नेत्रों से वायु अन्दर की सिराओं में ठहरकर दृष्टि को बाहर की ओर निकालती प्रतीत होती है अर्थात् दृष्टि बाहर निकलती प्रतीत होती है।[2]

5. **वातपर्यय :–** 'सुश्रुतसंहिता' में इस रोग के लक्षण इस प्रकार हैं — वातपर्यय रोग में वायु दूषित होने के कारण नेत्र की दोनों पलकों में पीड़ा उत्पन्न करती हैं, कभी दोनों नेत्रों में और तो कभी भौं (भ्रू) में वायु विचरण करके नेत्रों को पीड़ित करती है।[3]

'भावप्रकाश' के अनुसार वातपर्यय नामक रोग में वायु बार-बार नेत्रों में और कभी भ्रू (भौहों) में अनेक प्रकार की तीव्र वेदना करती हैं। यह वातपर्यय नामक रोग के लक्षण हैं।[4]

6. **शुष्काक्षिपाक :–** 'भावप्रकाश' के अनुसार इस लक्षण में नेत्ररोग में चक्षु सिकुड़ जाता है, पलकें रुखी और कठोर हो जाती हैं। नेत्रों में जलन

---

1. हताधिमन्थमेतेषु साक्षिपाकात्ययं त्यजेत्॥
   —अ० हृ० उ० स्०, अ० 15, पृ० 504, श्लो० 23
2. अन्तः सिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन्।
   हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः॥
   —सु० सं० उ० त०, अ० 6, पृ० 606, श्लो० 24
3. पक्ष्मद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु यत्रानिलः संचरित प्रदुष्ट।
   पर्यायशचापि रूज करोति तं वातपर्यायमुदाहरन्ति॥
   —सु० सं० उ० त०, अ० 6, पृ० 609, श्लो० 25
4. वारंवारश्च पर्यैति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः।
   रुजाश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः॥
   —भा० प्र० चि०, प्र०, अ० 63, पृ० 648, श्लो० 12

होती हैं। स्पष्ट दिखाई नहीं देता और नेत्र खोलते बन्द करते समय कष्ट होता है अर्थात् नेत्रगोलक की पेशियों का घात होने की संभावना रहती है।[1]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार इस रोग में नेत्रों की पलकें संकुचित हो गई हो। पलकें शुष्क और कठिनाई से खुलती हो, इसके साथ स्पष्ट दिखाई नहीं देता और नेत्रों को खोलते और बन्द करने समय कठिनाई होती हैं। यह शुष्काक्षिपाक रोग के लक्षण है।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार इस रोग के लक्षण इस प्रकार है। 'शुष्काक्षिपाक' रोग में चक्षुओं में वात–पित्त के कारण नेत्र पीड़ित रहते हैं, इनमें भेद होने के साथ आँखों में मल (गिद्द) रहती हैं। वायु के स्पर्श से पलकें शुष्क, कठोर, नेत्रों के खोलने और बन्द करने में कठिनाई उत्पन्न करती है।[3]

7. **अन्यतोवात :-** 'भावप्रकाश' के अनुसार इस रोग में वर्णित लक्षण इस प्रकार है – 'अन्यतोवात' रोग में गला, सिर अथवा मुँह का निचला जबड़ा या किसी दूसरे स्थान में स्थित वायु नेत्रों और भौं में पीड़ा पैदा करें, तो उसे 'अन्यतोवात' कहते हैं। इस प्रकार विदेह ने भी कहा है कि यदि दोनों नाडियों के बीच में अथवा पृष्ठ में प्रकुपित वायु कनपट्टी या दोनों नेत्रों में ऐसा

---

1. यत्कूणितं दारूणरुक्षवर्त्म सन्दह्यते चाविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 648, श्लो॰ 127

2. यत् कूणितं दारुणरुक्षवर्त्म विलोकने चाविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 6, पृ॰ 610, श्लो॰ 26

3. वातपित्तातुरं घर्षतोदभेदोपदेहवत्।
रुक्षदारुणवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलननिमीलनम्॥
विकूणनविशुष्कत्वशीतेच्छाशूलपाकवत्।
उक्तः शुष्काक्षिपाकोऽयम्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्थ॰, अ॰ 15, पृ॰ 504, श्लो॰ 16

प्रतीत हो कि कोई सूई कोचने जैसी पीड़ा या चीरने जैसी पीड़ा कर रहा है, तो इसे 'अन्यतोवात' रोग कहते हैं।[1]

अन्यतोवात रोग के लक्षण 'अष्टाङ्गहृदय' में इस प्रकार है — इस रोग में चक्षु, कनपट्टी अथवा शरीर के किसी अन्य भाग सिर, पीठ आदि में रहकर वायु चक्षु में तीव्र वेदना (पीड़ा) को उत्पन्न करती है। यह रोग आँखों को संकुचित कर देता हैं और आँखों में प्रायः आँसू भरे रहते हैं।[2]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार इस रोग में वायु गले के पिछले भाग, कान, सिर, ठोड़ी अथवा पीठ में स्थित वायु भौहों और नेत्रों में पीड़ा उत्पन्न करती हैं।[3]

8. **अम्लाध्युषित :-** 'भावप्रकाश' में वर्णित इस रोग के लक्षण यह हैं — अत्यधिक अम्ल (खट्टे) भोजन पदार्थ खाने से चक्षु चारों ओर से लाल और मध्य में काले रंग वाले होते हैं। इस रोग से नेत्रों में वेदना और आँसू बहते रहते हैं। नेत्रों में शोथ (सूजन) भी रहती हैं, जिससे नेत्र पक जाते हैं।[4]

---

1. यस्यावटकर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रजोऽति भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 649, श्लो॰ 128

2. मन्याऽक्षिशंखतो वायुरन्यतो वा प्रवर्तयन्।
व्यथां तीव्रमपैच्छिल्यरागशोफं विलोचनम्॥
सङ्कोचयति पर्यश्रु सोऽन्यतोवातसंश्रितः।
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 15, पृ॰ 402, श्लो॰ 6

3. यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो भन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजोऽति भ्रवि लोचने वा तमन्यतो वातमुदाहरन्ति॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 6, पृ॰ 610, श्लो॰ 27

4. श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वमक्षि प्रपच्यते।
सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 649, श्लो॰ 129

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार 'अम्लोषित' (अम्लाध्युषित) नामक रोग के उपर्युक्त लक्षण भी मिलते हैं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार इस रोग में वर्णित लक्षण इस प्रकार हैं — बासी एवं खट्टे भोजन पदार्थ खाने से आँखें सम्पूर्णरूप से शोथयुक्त हो जाती हैं अर्थात् आँखों में सूजन होती हैं, इसके साथ नेत्र सिकुड़ जाते है और नेत्र नीले होते प्रतीत होते है।[2]

9. **शिरोत्पात** :– 'भावप्रकाश' में वर्णित इस रोग में चक्षुओं में पीड़ा हो या न हो, चक्षुओं में लाल धारियाँ पड़ जाती हैं और बार-बार विकृत वर्ण वाली हो जाती हैं और नेत्रों की रेखाएँ ताम्रवर्ण जैसी हो जाती हैं।[3]

'सुश्रुतसंहिता' में इस शिरोत्पात नामक रोग का लक्षण "भावप्रकाश" के समान ही मिलता है, जिसका पूर्व वर्णन किया जा चुका है।[4]

10. **शिराहर्ष** :– 'भावप्रकाश' के अनुसार शिरोत्पात नामक रोग की ठीक प्रकार से चिकित्सा न करने पर शिरोत्पात नामक रोग बढ़कर शिराहर्ष नामक रोग

---

1. अन्नसारोऽम्लतां नीतः पित्तरक्तोल्वणैर्मलैः।
शिराभिनेत्रमारूढः करोति श्यावलोहितम्॥
सशोफदाहपाकाश्रु भृशं चाविलदर्शनम्।
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 15, पृ॰ 503, श्लो॰ 21, 22

2. अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च संछाद्यते सर्वत एव नेत्रम्।
शोफान्वितं लोहितकैः सनीलैरेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति॥
—सु॰ सं॰ उ॰ स्॰, अ॰ 6, पृ॰ 610, श्लो॰ 28

3. अवेदना वाऽपि संवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।
मुहुर्विरज्यन्ति च याः समन्ताद् व्याधिः शिरोत्पाद इति प्रदिष्टः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 650, श्लो॰ 130

4. अवेदना वाऽपी सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।
मुहुर्विरज्यन्ति च ताः समन्ताद् व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टाः॥
—सु॰ सं॰ उ॰ स्॰, अ॰ 6, पृ॰ 610, श्लो॰ 29

का रूप धारण कर लेता है। नेत्रों में लाली आ जाती है। अश्रु गाढ़े होने लगते हैं और नेत्र दृष्टि (देखने की शक्ति) भी नहीं रहती हैं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' में इस रोग के भी उपर्युक्त लक्षण मिलते हैं।[2]

(ङ) चक्षुरोग की चिकित्सा :

चक्षुरोग के नाम तथा उनके लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात् चक्षुरोग की चिकित्सा इस प्रकार हैं, चक्षुरोग की चिकित्सा कई प्रकार से होती हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार है —

1. अभिष्यन्द :-

'भावप्रकाश' के अनुसार अभिष्यन्दों (वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द और रक्ताभिष्यन्द) रोगों की सेक विधि से चिकित्सा बताई गई है।

सेक की विधि :- रोगी की आँखें बन्द कराकर चार अङ्गुल की ऊँचाई से पतली धार रोगी की आँखों में डालें। यह विधि सभी नेत्ररोगों के लिए हितकर हैं। वातज रोगों में स्नेहन-द्रव्यों का सेक करना चाहिए। पित्तज और रक्तज में रोहण करने वाले द्रव्यों का सेक प्रयोग करना चाहिए तथा कफज में लेखन करने वाले (दोषों को खुरचकर निकालने वाले) द्रव्यों का सेवक प्रयोग करना चाहिए। स्नेहन-सेक को छः सौ मात्रा तक, रोपण-सेक को चार सौ मात्रा तक और लेखन-सेक तीन सौ मात्रा तक करना चाहिए, चक्षुओं को बन्द करके खोलने में जितना समय लगता हैं अथवा एक चुटकी बजाने में जितना समय लगता है या

---

1. मोहाच्छिरोत्पाद उपेक्षितस्तु जायेत रोगः स शिराप्रहर्षः।
ताम्राक्षिता स्रावयति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुञ्च॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 63, पृ॰ 650, श्लो॰ 131
2. मोहात् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।
ताम्राच्छमस्त्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 6, पृ॰ 610, श्लो॰ 30

एक गुरु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना समय एक 'वाङ्मात्रा' मानी जाती है। सेक विधि दिन में ही करनी चाहिए। यदि अत्यधिक पीड़ा हो तो रात्रि में भी करना चाहिए।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित अभिष्यन्दों (वातज, पित्तज, रक्तज और कफज) रोगों की लेप विधि से चिकित्सा बताई गई है, जो इस प्रकार है —

लेप-विधि :- वातज अभिष्यन्द में सैन्धव, सोंठ, रसौंत, इनको घी के साथ घिसकर आँखों पर लेप करें। पित्तज और रक्तज अभिष्यन्द में जटामांसी, पद्माख, कालीयक (रक्तचन्दन) इनका लेप करना चाहिए। कफ में मैनसिल, प्रियंगु और मधु इन सबको घिसकर आँखों पर लेप करना चाहिए।

नेत्राभिष्यन्दों में यदि दाह (पीड़ा), नेत्रों की मैल, आँखों में लाली अर्थात् आँखों में सुर्खी, आँसू आना और सूजन की शान्ति के लिए तेजपात, इलायची, मरिच, स्वर्णगेरू, रसौंत, मुलहठी, चन्दन और सैन्धव को घिसकर आँखों के बाहर लेप करने से शीघ्र आराम मिलता है।[2]

---

1. सेकस्तु सूक्ष्मधराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः।
मलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुङ्गुलः॥
स चापि स्नेहनो वाते पित्ते रक्ते च रोपणः।
लेखनस्तु कफे कार्यस्तस्य मात्राऽभिधियते॥
षड्भिर्वाचां शतैः स्नेहे चतुर्भिस्तैस्तु रोपणे।
तैस्त्रिभिर्लोचने कार्यः सेको नेत्रप्रसादने॥
निमेषोन्मेषणं पुसामङ्गुल्याच्छोटिकाऽथवा।
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेय स्मृता बुधैः॥
सेकस्तु दिवसे कार्यो रात्रौ चात्यन्तिके गदे॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 63, पृ० 656, श्लो० 137-141

2. सैन्धवं नागरं तार्क्ष्यं घृष्टं मण्डेन सर्पिषः।
वातजे घृतभृष्टं वा योज्यं शबरदेशजम्॥
मांसीपद्मककालीययष्टयाह्वैः पित्तरक्तयोः।
मनोह्वाफलिनीक्षौद्रैः कफे, सर्वैं सर्वजे॥
दाहोपदेहरागाश्रुशोफशान्त्यै विडालकम्।
कुर्यात्सर्वत्र पत्रैलामरिचस्वर्णगैरिकैः॥
सरसाञ्जनयष्ट्याह्वनतचन्दनसैन्धवैः।
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 13, पृ० 504, श्लो० 3, 4, 2

2. अधिमन्थ :

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार यदि अभिष्यन्दोक्त चिकित्सा से अधिमन्थ रोग शान्त न हो तो पलकों के ऊपर दाह करना चाहिए।

अभिष्यन्दों के समान ही अधिमन्थ रोग भी (वात, पित्त, कफ और रक्त) चार प्रकार का होता हैं।

वातजनेत्ररोग (अधिमन्थ) में, गाय के दूध से चाँदी के ऊपर लेप करें। जब लेप नीला और सूख जाए, तब उस लेप को उतारकर दही के पानी के साथ पीसकर, उसका अंजन बनाकर नेत्रों में लगाना चाहिए।

पित्तरक्तज–नेत्ररोग (अधिमन्थ) में, चमेली की कलियाँ, शंखनाभि, त्रिफला, मुलहठी, बला, इनको पीसकर इसकी बत्ती बनानी चाहिए और इसका अंजन करने से यह रोग शान्त हो जाता है।

कफजन्य अक्षिरोग में सैंधव, त्रिफला, शंख का बीच का हिस्सा, समुद्रफेन, राल, एबालुक इनकी वर्ति बनाकर, आँखों में अंजन करने से कफजन्य अधिमन्थ नष्ट हो जाता हैं।[1]

3. सशोथपाक :

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार इस रोग की चिकित्सा इस प्रकार गई है —

अनार, अमलतास, अश्मन्तक, बैर, कांजी और थोड़ा-सा सैंधव, इनको

---

1. अशान्तो सर्वथा मन्थे भ्रुवोरूपि दाहयेत्।
रूप्यं रूक्षेण गोदधा लिम्पेन्नीलत्वमागते॥
शुष्के तु मस्तुना वर्तिर्वाताक्ष्यामयनाशिनी।
सुमनः कोरकाः शङ्खत्रिफला मधुरुं बला॥
पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा।
सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभि समुद्रजः॥
फेन ऐलेयकं सर्जो वर्तिः, श्लेष्माक्षिरोगनुत्॥
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 16, पृ० 505, श्लो० 21-24

मिलाकर रस क्रिया बनायें। पाक को नष्ट करने के लिए इस रस क्रिया का अंजन आँखों में डालना चाहिए।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार सशोथ और अल्पशोथ नेत्रपाक की चिंकित्सा में द्राक्षा और हरड़ के क्वाथ (काढ़े) निशोथ और घी के साथ विरेचन करना चाहिए।

श्वेतलोध को घी में भूनकर चूर्ण बनाकर पोटली में बाँधकर गर्म पानी से मसल कर सेक करना चाहिए। यह पीड़ा को शीघ्र शान्त करता है।[2]

5. **वातपर्यय :**

'सुश्रुतसंहिता' में इस रोग के अनुसार रोगी की चिकित्सा के लिए भोजन से पहले घृत पिलायें अथवा भोजन में दूध दें। वन्दाक, कैथ, विल्वादि महापञ्चमूल, दूध, केकड़े का सूप इनसे निकाला गया घृत पिलाना चाहिए।[3]

'चक्रदत्त' के अनुसार वातपर्यय चक्षुरोग में भोजन के पहले घी पीना तथा भोजन के साथ दूध पीना लाभकारी है।[4]

---

1. दाडिमारेवताश्मन्तकोलाम्लैश्च ससैन्धवाम्।
रसक्रियां वा वितरेत्सम्यक्पाकजिघांसया॥
—सु० सं० उ० त०, अ० 13, पृ० 622, श्लो० 42
2. सशोफे वाऽल्पशोफे च स्निग्धस्य व्यधयेत्सिराम्॥
रेकः स्निग्धे पुनर्द्राक्षापथ्याक्वाथत्रिवृद्घृतैः।
श्वेतरोध्रं घृते भृष्टं चूर्णितं तान्तवस्थितम्॥
—अ० हृ० उ० स्०, अ० 16, पृ० 506, श्लो० 32
3. पूर्वभक्तं हितं सर्पिः क्षीरं वाऽप्यथ भोजने।
वृक्षादन्यां कपित्थे च पञ्चमूले महत्यपि॥
सक्षीरं कर्कटरसे सिद्ध चात्र घृत पिबेत्।
सिद्धं वा हितमत्राहुः पत्तूरार्तगलाग्निकैः॥
—सु० सं० उ० त०, अ० 10, पृ० 616, श्लो० 28-29
4. वाताभिष्यन्दवच्चान्यद्वाते मारूतपर्य्यये।
पूर्वभक्तं हितं सर्पिः क्षीरञ्चाप्यथ भोजने॥
—च० द०, अ० 59, पृ० 468, श्लो० 54

6. **शुष्काक्षिपाक :**

'चक्रदत्त' के अनुसार शुष्काक्षिपाक चक्षुरोग की चिकित्सा में दो माशा सेंधा नमक, चार मासा देवदारू, चार माशा सोंठ, बिजौरा नींबू का रस, घी, स्त्री का दूध तथा जल (प्रत्येक दस माशे) इनको धीमी अग्नि पर पकाकर अंजन बनाकर लगाने से शुष्कपाक नष्ट हो जाता है।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में भी शुष्काक्षिपाक चक्षुरोग चिकित्सा के उपाय वर्णित है।[2]

7. **अन्यतोवात :**

'चक्रदत्त' के अनुसार अन्यतोवात चक्षुरोग की चिकित्सा वातपर्याय चक्षुरोग की चिकित्सा के समान है, जिसका हम पूर्व वर्णन (चिकित्सा का वर्णन) कर चुके हैं।[3]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार अन्यतोवात नामक रोग की चिकित्सा में रोगी को भोजन से पहले घृत पिलायें या भोजन में दूध दें। वन्दाक, कैथ, बिल्वादि महापञ्चमूल, दूध, केकड़े का माँस, रस अर्थात् केकड़े का सूप, इनसे निकाला गया घृत पिलायें। अन्यतोवात नेत्र रोग की चिकित्सा वातपर्याय नेत्र रोग की चिकित्सा के समान है।[4]

---

1. सैन्धवं दारू शुण्ठी च मातुलुङ्गरसो घृतम्।
   स्तन्योदकाभ्यां कर्त्तव्यं शुष्कपाके तदञ्जनम्॥
   —च॰ द॰, अ॰ 59, पृ॰ 468, श्लो॰ 53
2. शुष्काक्षिपाके हविषः पानमक्ष्णोश्च तर्पणम्।
   घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन वाऽणुना॥
   —अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 26, पृ॰ 506, श्लो॰ 28
3. वाताभिष्यन्दवच्चान्यद्वाते मारूतपर्य्यये।
   पूर्वभक्तं हितं सर्पिः क्षीरञ्चाप्यथ भोजने॥
   —च॰ द॰, अ॰ 57, पृ॰ 475, श्लो॰ 54
4. पूर्वभक्तं हितं सर्पिः क्षीरं वाऽप्यथ भोजने।
   वृक्षादन्यां कपित्थे च पञ्चमूले महत्यपि॥
   सक्षीर कर्कटरसे सिद्ध चात्र घृतं पिबेत्।
   सिद्धं वा हितमत्राहुः पत्तूरार्तगलाग्निकैः॥
   —सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 10, पृ॰ 616, श्लो॰ 18–19

8. अम्लाध्युषित :

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित अम्लाध्युषित (अम्लोषित) नेत्र रोग चिकित्सा में अम्लोषित चिकित्सा में पित्ताभिष्यन्द चिकित्सा को बरतना चाहिए। जिसका हम पूर्व उल्लेख कर चुके हैं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार अम्लाध्युषित नामक चक्षुरोग की चिकित्सा के लिए त्रैफलघृत, संशोधनघृत अथवा पुरातनघृत (संशमनघृत) भी पीना चाहिए। इसके साथ ही इस रोग की चिकित्सा में सिरामोक्षण न करने को बताया गया है।[2]

9. शिरोत्पात :

'चक्रदत्त' के अनुसार शिरोत्पात चक्षुरोग चिकित्सा में घी, मधु तथा सुरमे को पीसकर अथवा थोड़ी मात्रा में काशीश तथा सेंधा नमक को स्त्री के दूध में घिसकर अञ्जन लगाने से शिरोत्पाद रोग नष्ट हो जाता है।[3]

10. शिराहर्ष :

'चक्रदत्त' में वर्णित शिराहर्ष रोग की चिकित्सा में मधु के साथ राव या मधु के साथ रसांजन (रसौत) या मधु के साथ कासीस घिसकर अंजन लगाना चाहिए।[4]

---

1. अम्लोषिते प्रचुञ्जीत पित्ताभिष्यन्दसाधनम्।
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 16, श्लो॰ 43
2. एषोऽम्लाख्येऽनुक्रमश्वापि शुक्तौ कार्यः सर्वः स्यात्सिरामोक्षवर्ज्यः।
सर्पिः पेयं त्रिफलं तैल्वकं वा पेयं वा स्यात् यत् पुराणम्॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 10, पृ॰ 618, श्लो॰ 13
3. सर्पिः क्षौद्राञ्जनञ्च स्याच्छिरोत्पातस्य भेषजम्।
तद्वत् सैन्धवकाशीशंस्तन्यपिष्टञ्च पूजितम्॥
—च॰ द॰, अ॰ 57, पृ॰ 57, पृ॰ 476, श्लो॰ 58
4. शिराहर्षेऽञ्जनं कुर्य्यात् फाणित मधुसंयुतम्।
मधुना तार्क्ष्यशैलं वा काशीसं वा समाक्षिकम्॥
—च॰ द॰, अ॰ 57, पृ॰ 476, श्लो॰ 59

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार सिराहर्ष (शिराहर्ष) नामक रोग से ग्रस्त रोगी को चक्षु चिकित्सा के लिए रोगी सौ वर्ष पुराना घी या अधिक मधुर माँस वाले रसों से स्निग्ध करके सिरामोक्षण करें।[1]

(च) चक्षु को स्वस्थ रखने के लिए घरेलू उपचार :-

(i) स्वस्थ पुरुष भी जिसको अपनी आँखें प्रिय हों, वह सदा पुरातन (पुराना) जौ, गेहूँ, शालि (चावल) सांठी, कोदो और मूंग आदि को तथा कफ-पित्तनाशक, घृत से अतिशय स्निग्ध शाकों को एक कफपित्तनाशक प्रचुर घी युक्त जांगल मांस को, अनार, शर्करा, सैंधव, त्रिफला और दाक्षा को खाने के साथ ही पीने में बरसात का पानी पीना चाहिए, छाता, जूता धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विधिपूर्वक दोषों का शोधन करें।[2]

(ii) चक्षुओं में आँसुओं का अधिक आना, नेत्रों की लालिमा, नेत्रों में जलन एवं खुजली की चिकित्सा के लिए — सौ मिली. गुलाबजल में दस ग्राम आँवले की कली डुबाकर रखें। इस मिश्रण को दो दिन तक रखा रहना दें। दो दिन बाद इसे निथारकर कपड़े की आठ तह कर छान लें। उसके बाद शीशी में भरकर रखें, दो-दो बूँद की मात्रा में आँखों में डालने से शीघ्र आराम मिलता है।[3]

---

1. व्याध्यातश्चितुरोऽप्येतान् स्निग्धान्कौम्भेन सर्पिषा।
रसरूदारैरथवा सिरामोक्षेण योजयेत्॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 1, पृ॰ 619, श्लो॰ 4

2. सर्वदा च निषेचेत स्वस्थोऽपि नयनप्रियः।
पुराणयवगोधूमशालिषष्टिककोद्रवान्॥
मुद्गादीम् कफपित्तध्नान् भूरिसर्पिः परिप्लुतान्।
शाक चैवंविधं मासं जाङ्गल दाडिमं सिताम्॥
सैन्धवं त्रिफलां द्राक्षां वारि पाने च नाभसम्।
वर्जयेद्वेगसंरोधमजीर्णाध्यशनानि च॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 17, पृ॰ 508, श्लो॰ 61-63

3. औ॰ द॰, पृ॰ 56

(iii) सभी प्रकार के चक्षु (नेत्र) रोगों के लिए हल्दी बहुत लाभदायक है। एक भाग हल्दी और बीस भाग पानी में उबालकर छानकर उसे आँखों में बार–बार डालने से आँखों की वेदना कम होती है तथा कीचड़ आना भी कम होता है।[1]

(vi) **धनिया (coriander fruit)** :– इसका प्रयोग नेत्रशूल (पीड़ा), अतिसार आदि रोगों के लिए होता है। नेत्राभिष्यन्द में इसके क्वाथ (काढ़े) को छानकर नेत्र बिन्दु के रूप में डालने से लाभ होता है। पहले एरण्ड तेल डालकर फिर इसका प्रयोग करना चाहिए।[2]

(v) **आँवला (Amla)** :– आँवला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण औषधि है। इसमें 'विटामिन सी' (Vitamin C) की प्रचुर मात्रा होती है। पेड़ पर लगे हुए ताज़े आँवलों को तोड़कर और उसको चीरने से जो रस निकलता है, उस रस से आँखें धोने से अक्षिशोथ (आँखों की सूजन) दूर होती है। आँवले के बीजों की मीगी के क्वाथ (काढ़े) से आँखें धोने से आँखों का दर्द दूर होता है।[3]

(vi) चक्षुओं को स्वस्थ रखने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल ठण्डे पानी में आधा या पूरा नींबू निचोड़कर खट्टे पानी क सेवन करना चाहिए। 'विटामीन–सी' की प्रचुर मात्रा होने के कारण, चक्षुओं के लिये लाभदायक है।

(vii) **पामिंग (Palming)** :– पामिंग का अर्थ हथेलियों को हाथों से ढँकना है। आँखों से पर्याप्त काम लेने के बाद या आँखों के थक जाने पर पामिंग से आँखों को आराम देना चाहिए। दिन में दो–तीन बार समय निकालकर

---

1. भा॰प्र॰ नि॰, पृ॰ 66
2. भा॰प्र॰ नि॰, पृ॰ 29
3. भा॰प्र॰ नि॰, पृ॰ 7

तीन-तीन मिनट तक पामिंग करने से चक्षुओं को आराम मिलता है।

(viii) **पानी के छींटे मारना (Water splashes)** :- चक्षुओं की देखभाल के लिये दिन में तीन-चार बार आँखों पर ठण्डे पानी से दस-बारह छींटे मारने चाहिए। यदि बर्फीला अथवा फ्रीज का पानी हो तो और भी अच्छा है। सुबह मुँह धोते समय, दोपहर, शाम एवं रात को सोने से पहले आँखों पर पानी के छींटे मारने चाहिए। सर्दी की प्रकृति वाले व्यक्तियों को घड़े के पानी का उपयोग करना चाहिए।

(ix) **वाष्प सेवन (Steam)** :- सप्ताह में एक-दो बार आँखें बन्द करके चेहरे पर नमक वाले पानी की भाप लेनी चाहिए।

(x) **सिर पर जलधारा** :- सामान्य परिस्थिति में सिर पर गर्म पानी न डालें। स्नान कर चुकने के बाद, शरीर को पोंछने से पहले यदि स्नानघर में फव्वारे की सुविधा हो तो उसके नीचे बैठकर एक-दो मिनट तक सिर पर पतली धार का सेवन करना चाहिए और फव्वारा न हो तो लोटे में पानी भरकर धीरे-धीरे उड़ेलने से आधे मिनट का समय लगाने से आराम मिलता है।

(xi) **सूर्य-किरणें (Sun-rays)** :- सूर्य की किरणें चक्षुओं के लिए हितकारी होती है। प्रातःकाल सूर्योदय के समय अथवा सायंकाल सूर्यास्त के समय सूर्य की कोमल किरणें खुली आँखों पर झेलनी चाहिए, इसके साथ ही आँखें खुली होने पर भी दृष्टि सूर्य के सामने केन्द्रित न करके कुछ दूरी पर नीचे की ओर रखें और पलकें झपकाने की क्रिया थोड़ी बड़ा देने से चक्षुओं को हानि नहीं होती है।

(xii) **चन्द्र-किरणें (Moon-rays)** :- चन्द्र-किरणों से भी आँखों को लाभ प्राप्त होता है। चाँदनी रात में इच्छानुसार, आकाश की तरफ चेहरा करके चित्त

लेटने से और चन्द्रमा के चारों ओर दृष्टि घुमाते हुए शिथिल आँखों से धीरे-धीरे पलकें झपकाने से चक्षुओं को आराम मिलता है। इच्छानुसार पाँच से पन्द्रह मिनट तक चाँदनी का आनन्द लेना हितकर होता है।

इस प्रकार की दैनिक आदतें बना लेने पर चक्षुओं को ठीक रख सकते हैं।[1]

(छ) चक्षुओं के उपयोग में विभिन्न सावधानियाँ :-

आँखें भगवान् द्वारा मनुष्य को दिया गया अमूल्य उपहार है। इनके न होने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इनका कार्य केवल देखना ही है लेकिन फिर भी हमें इनकी उचित देखभाल करनी चाहिए जिससे इन पर किसी प्रकार का दबाव या ज़ोर न पड़े। इनका निम्नलिखित कामों में सावधानीपूर्वक उपयोग करना चाहिए:-

(i) **पलकों का झपकना :-** पलकें झपकने का काम भी प्रकृति द्वारा निर्मित है। जब हम किसी को देखते हैं तो उसकी पलकें अपने-आप झपकती नज़र आएंगी। पलकों के झपकने से आँखों को आराम मिलता है इसलिए हम चाहें किसी भी कार्य में व्यस्त हों हमें आँखें झपकाना नहीं भूलना चाहिए।

(ii) **पढ़ने-लिखने के समय में :-** हमें पढ़ते-लिखते समय सिर को सीधा रखकर पुस्तक आँखों के नीचे रखनी चाहिए। आगे-आगे पढ़ते या लिखते समय सिर को घुमाते रहना चाहिए। कुछ समय पढ़ने-लिखने के पश्चात् आँखों को विश्राम देते हुए ठण्डे पानी के छींटें मारकर तथा भीगे ठण्डे हाथों से पामिंग करनी चाहिए।

(iii) **वाहनों में पढ़ना :-** तीव्रगति से चलने वाले वाहनों में पढ़ना नहीं चाहिए। रेलगाड़ी में पढ़ने से आँखों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी

---

1. ने॰ रो॰, पृ॰ 14, 18-21

कभी–कभी बाहर के दृश्यों को देखकर आँखों को आराम देना चाहिए।

(iv) **रात को प्रकाश में पढ़ना :–** हमें जहाँ तक हो सके तो रात को कम पढ़ना चाहिए, इससे आँखों पर काफी प्रभाव पड़ता है। अगर आप रात को पढ़ना ही चाहते हैं तो तारवाले बल्बों की अपेक्षा ट्यूब लाइट के प्रकाश में पढ़कर या अन्य काम कर सकते हैं। इसकी रोशनी आँखों के लिए नुकसानदायक नहीं होती।

(v) **सिनेमा, टी.वी. :–** हमें सिनेमा, टी.वी. का भी परहेज़ करना चाहिए, खासतौर पर दस–बारह वर्ष की आयु के बच्चों को बहुत कम टी.वी. देखना चाहिए, इससे भी दृष्टि दोष उत्पन्न होता है जिसमें धीरे–धीरे आँखों की नज़र भी जाती रहती है। सिनेमा, टी.वी. देखते समय बीच–बीच में आँखें बन्द करते रहना चाहिए।

(vi) **सिलाई–बुनाई का कार्य :–** जब आप सिलाई–बुनाई का कार्य करते हैं तो केवल कपड़े पर ही अपनी नज़र टिकानी चाहिए और बीच–बीच में आँखों को आराम देना चाहिए।[1]

1. ने॰ रो॰, पृ॰ 24

पञ्चम अध्याय

रसनारोग एवं निदान

पञ्चम अध्याय

रसनारोग एवं निदान

(क) मुख में रसना का स्थान :

रसना द्वारा ही मुख में डाले हुए पदार्थों का स्वाद अनुभव होता है। रस या स्वाद पहचानने के अतिरिक्त जिह्वा और भी कई कार्य करती है। जिह्वा की सहायता से हम अपने विचार एक-दूसरे के सामने प्रकट करते हैं अर्थात् बोलते हैं। भोजन को भली प्रकार चबाने और उसको निगलने के लिए जिह्वा की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। यदि भोजन करते समय दाँतों के बीच में कुछ फँस जाता है, तो उसको जिह्वा निकाल लेती है। वह भोजन को गाल और दाँतों के बीच में या दाँतों की संधों में अड़ने नहीं देती। जिह्वा में ही भोजन की वस्तुओं का तापक्रम मालूम करने की शक्ति होती है। रसना को जिह्वा भी कहा गया है, अर्थात् जिह्वा में रस का स्वाद पहचानने की शक्ति होती है।

(i) रसना की बनावट :

रसना का अग्र भाग पतला और नोकीला होता है और जड़ (मूल) मोटी और चौड़ी होती है। इसका रंग गुलाबी-सा होता है। रक्तहीनता में रंग फीका पड़ जाता है। जिन लोगों को सदा अजीर्ण रहता है, उनके मुख से दुर्गन्ध और जिह्वा पर मैल जम जाती है, जिससे उनकी जिह्वा का रंग मैला, श्वेत या भूरा-सा हो जाता है और कभी-कभी जिह्वा फट भी जाती है।

जिह्वा अधिकतर मांस से बनी है, मांस के ऊपर मोटी श्लैष्मिक कला

चढ़ी रहती है। जिह्वा कई मांसपेशियों द्वारा अधो हन्वस्थि, शिफा प्रवर्धन और कण्ठिकास्थि से जुड़ी रहती हैं। उसके संकुचित और प्रसार से वह छोटी, बड़ी, चौड़ी और पतली हो जाती है। जिन मांसपेशियों द्वारा वह अस्थियों से जुड़ी होती हैं, उनके संकुचित और प्रसार से वह (जिह्वा) मुँह से बाहर निकल आती है और फिर भीतर चली जाती है तथा मुँह के भीतर भी गति करती रहती है। जिह्वा के ऊपर श्लैष्मिक कला के कारण अनेक छोटे और बड़े दाने दिखाई देते हैं। ये दाने या उभार सौत्रिक तन्तु, नाडी सूत्र, और रक्तकोशिकाओं के इक्ट्ठे होने से बनते हैं। इन सब वस्तुओं के ऊपर सेलों (Cells) की कई तहें चढ़ी रहती हैं।

(ii) रसना पर दाने अथवा अंकुर तीन प्रकार के होते हैं :-

खातवेष्टिांकुर :- जिह्वामूल पर नौ-दस बड़े-बड़े दाने रहते हैं, ये दाने पंक्तियों में रहते हैं, जो पीछे जाकर एक-दूसरे से मिलकर बृहत् कोण बनाती हैं। प्रत्येक दाने के चारों ओर एक खाई होती है, इसलिए इन दानों को खातवेष्टिांकुर कहते हैं। खात की दीवारों में दबे हुए बहुत से छोटे-छोटे विशेष सेलसमूह होते हैं, इनको स्वादकोष कहते हैं, प्रत्येक अंकुर में कोई सौ डेढ़ सौ स्वादकोष होते हैं।

छत्रिकांकुर :- दूसरे प्रकार के दाने जिह्वा के किनारों में पाए जाते हैं। इनमें भी स्वादकोष होते हैं। ये कुछ-कुछ छत्रिका नामक वनस्पति जैसे होते हैं, इस कारण से छत्रिकांकुर कहलाते हैं।

सूत्रांकुर :- ये दाने पतले और नोकीलें होते हैं और जिह्वा में हर जगह पाए जाते हैं। ये बहुधा सामानन्तर पंक्तियों में रहते हैं, इसलिए इनको सूत्रांकुर कहते हैं। इनमें स्वाद पहचानने की शक्ति कम होती है इनका विशेष सम्बन्ध स्पर्श ज्ञान से है।

जिह्वा की फूँग, मूल तथा किनारों में स्वाद पहचानने की शक्ति अधिक होती है, शेष भाग स्पर्श, उष्णता इत्यादि के ज्ञान के लिए काम में आते हैं।[1]

(ख) रसना पर छः प्रकार के रसों के लाभ तथा हानियाँ :

मुँह में डाले हुए पदार्थों का अनुभव जिह्वा से ही होती है। छः प्रकार के रसों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय — इन रसों के लाभ तथा हानियाँ इस प्रकार हैं :-

1. **मधुर रस :-** मधुर अर्थात् मीठा रस सबको पीने में अच्छा लगता है। इस रस के लाभ तथा हानियाँ इस प्रकार हैं :-

   लाभ :- मधुर रस का सेवन करने वालों को रक्त, माँस, मज्जा, ओज और शुक्र की वृद्धि होती है। मधुर रस बालक, वृद्ध, युवा, क्षयरोगग्रस्त और दुर्बल इन सबके लिए हितकारी हैं। इससे मूर्च्छा, तृष्णा, दाह का नाश होता है और रक्त को साफ रखता है। यह बलवर्द्धक, व्रणसन्धायक (फटे घाव को जोड़ना) दृष्टि और केशों के लिए लाभकारी है।

---

1. ह० श० र०, अ० 25, पृ० 686

हानि :– मधुर रस किसे नहीं अच्छा लगता, किन्तु यदि इसका अधिक मात्रा में सेवन करें, तो हानि होती है। जैसे :– श्वास का रुकना, आलस्य आना, कण्ठ का खराब होना, मलद्वार का उपलेप और चक्षु में वेदना (पीड़ा) होती है।[1]

2. **अम्लरस** :– अम्लरस अर्थात् खट्टा रस, यह भी रस सबका प्रिय रस है इसको भी फलों, सब्ज़ियों, गोलगप्पे, पकौड़े, समोसे आदि के साथ बड़ा पसन्द करते हैं।

लाभ :– अम्लरस खाने से वायु शान्त होती है, अनुलोम होता है। यह रस पाचक अर्थात् खाद्य–पदार्थों को पचाता है। यह हृदयजनक और मुँह को प्रिय लगने वाला है।

हानि :– अम्लरस का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे दाँतों में हानि, लोम को हानि, गाढ़ा कफ तरल होने के साथ–साथ शरीर में भी शिथिलता आ जाती है। यदि शरीर के किसी भाग में घाव, छिन्न, शोकग्रस्ता हो तो अम्लरस के सेवन से, वह भाग पक जाता है। आग्नेय गुण होने के कारण कण्ठ, वक्ष और हृदय में जलन होती है।

3. **लवणरस** :– लवणरस अर्थात् नमकीन रस कुछ लोग इस रस को खाना ज़्यादा पसन्द करते हैं।

लाभ :– लवणरस रस पाचक और संशोधक है। इससे रसों का विश्लेषण होता है और शरीर शिथिल (loose) होता है।

---

1. हि॰ वि॰ क॰, पृ॰ 195–196

हानि :- लवणरस का अधिक मात्रा में सेवन करने से मुख, व्रण (चोट), फोड़े, नेत्रों में व्रण, रक्तपित्त, वातरक्त और पुरुषतत्व हानि होने के साथ-साथ खट्टे डकार भी आते हैं।

4. **कटुरस :-** कटुरस अर्थात् कडुवा रस। यह रस जिह्वा द्वारा कडुवा अनुभव होता है। इसलिए इस रस का सेवन लोग कम करते हैं।

लाभ :- यह रस पचाने वाला, रोचन (उत्तेजक) और संशोधक है। यह रस शरीर को स्थूल रखने वाला, कफ, विष नाशक माना गया है।

हानि :- यदि अधिक मात्रा में कटुरस को लेने से तालू, जिह्वा, गला और होंठ सूखते ही नहीं, उनकी हानि के साथ ज्वर (बुखार), वेदना, हाथ, पाँव और बगल तथा पीठ में पीड़ा होती है।

5. **कषायरस :-** कषायरस अर्थात् कषैला रस।

लाभ :- इस रस के अधिक सेवन करने से यह मल, मूत्र और श्लेषमा आदि को रोकता है। इस रस के खाने से फोड़े आदि को हानि भी होती है।

हानि :- कषायरस के अधिक सेवन करने से हृदयरोग, मुखरोग, अङ्ग स्फुरन, कान में चुन-चुन शब्द होते हैं।

6. **तिक्तरस :-** तिक्तरस अर्थात् तीखा रस। यह रस भी जिह्वा द्वारा सेवन करने से रूचिकर और कान्ति युक्त लगता है। इस रस के लाभ और हानि इस प्रकार हैं :-

लाभ :- इस रस से ज्वर (बुखार), मूर्च्छा और कुष्ठ की हानि होती है।

हानि :- तिक्तरस का यदि अधिक मात्रा में सेवन करे तो शरीर स्पन्दहीन हो जाता है। शिर-शूल, भ्रम और मुखवैरस्य आदि रोग उत्पन्न होते हैं।[1]

इनमें से मुख्य रस मधुर, अम्ल, तिक्त और लवण माने जाते हैं। मधुरस फूँग से, अम्ल रस किनारों से और कटु रस जिह्वा मूल से अच्छी प्रकार जाने जाते हैं, शेष रस कुछ-कुछ हर एक भाग से जाने जा सकते हैं।[2]

(ग) रसनारोग के प्रकार :

'भावप्रकाश' के अनुसार रसना में पाँच प्रकार के रोग होते हैं और इनके नाम इस प्रकार हैं :-

1. वातज जिह्वारोग
2. पित्तज जिह्वारोग
3. कफज जिह्वारोग
4. अलास जिह्वारोग
5. उपजिह्विका रोग।[3]

'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित जिह्वारोगों में कण्टक तीन प्रकार के जिसमें

---

1. हि॰ वि॰ क॰, पृ॰ 196
2. ह॰ श॰ र॰, अ॰ 25, पृ॰ 688
3. वात्तजः पित्तजश्चापि कफजोऽलासंज्ञकः।
   उपजिह्विका च गदा जिह्वायां पञ्च कीर्त्तिताः॥
   —भा॰प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 711, श्लो॰ 86

वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य तीन रोगों से युक्त है। अलास और उपजिह्विका ये दो प्रकार के और जिह्वारोग है, ये जिह्वा के काँटों में नहीं होते, जिह्वा में होते हैं।[1]

(घ) रसनारोग के लक्षण एवं चिकित्सा :

(i) रसनारोग के लक्षण :

1. **वातजिह्वारोग :–** 'भावप्रकाश' के अनुसार वातज जिह्वा कुछ फटी हुई, रसों (मधु, अम्ल, लवणादि) का ज्ञान न करने वाली और मरुभूमि में होने वाले सागौन के काँटों की तरह काँटों (अंकुरों) से ढकी हुई सी प्रतीत होती है।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित वातजजिह्वारोग में वायु से दूषित जिह्वा सागवान पत्ते के समान रुखी और चेतनारहित अर्थात् रसों का ज्ञान न करने वाली होती है।[3]

'सुश्रुतसंहिता' में भी भावप्रकाशके समान ही वातजजिह्वारोग के लक्षण बताए गए हैं।[4]

---

1. जिह्वागतास्तु — कण्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैः अलास, उपजिह्विका चेति॥
 —सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 16, पृ॰ 277, श्लो॰ 36
2. जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा॥
 —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 711, श्लो॰ 87
3. शाकपत्रखरा सुप्ता स्फुटिता वातदूषिता॥
 —अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 21, पृ॰ 522, श्लो॰ 31
4. जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता।
 भवेच्च शाकच्छदन प्रकाशा॥
 —सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 16, पृ॰ 277, श्लो॰ 37

2. **पित्तजजिह्वारोग :–** 'भावप्रकाश' के अनुसार पित्तजजिह्वारोग के लक्षण में जिह्वा पर बड़े–बड़े लाल काँटे भरे रहते हैं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार पित्तजजिह्वारोग के लक्षण में पित्त के कारण जिह्वा पीली और जलती हुई सी प्रतीत होती है और जीभ लाल–लाल काँटों से भरी रहती है।[2]

'अष्टाङ्गहृदय' में भी पित्तजजिह्वारोग के उपर्युक्त लक्षण दिए गए हैं।[3]

3. **कफजजिह्वारोग :–** 'भावप्रकाश' में कफजजिह्वारोग के लक्षण इस प्रकार है — कफजजिह्वा भारी, मोटी और सेमर के काँटों के आकार वाले मांसजन्य अंकुरों से ढकी अर्थात् भरी रहती है।[4]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार कफजजिह्वारोग के लक्षण में जिह्वा सेमल के काँटों के समान काँटों से भारी एवं शोथ से भी भारी होती है।[5]

'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित इस रोग के कारण जिह्वा भारी, स्थूल और सिम्बल के काँटों के समान मांसांकुरों (कण्टकों) से भरी होती है।[6]

---

1. पित्तात्सदाहैरूपचीयते च दीर्घः सरक्तैरपि कण्टकैश्च॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 711, श्लो॰ 88
2. पित्तेन पीता परिदह्यते च।
चिता सरक्तैरसि कण्टकैश्च॥
—सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 16, पृ॰ 277, श्लो॰ 38
3–5. जिह्वा पित्तात् सदाहोषा रक्तैर्मांसाङ्कुरैश्चिता।
शाल्मलीकण्टकाभैस्तु कफेन बहला गुरुः॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 21, पृ॰ 522, श्लो॰ 32
4. कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰,अ॰ 66, पृ॰ 711, श्लो॰ 89
5. कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोद्गमैः शल्मलिकण्टाभै॥
—सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 16, पृ॰ 277, श्लो॰ 37

4. **अलासजिह्वारोग** :- 'भावप्रकाश' के अनुसार अलासजिह्वारोग के लक्षण में जिह्वा के नीचे कफ और रक्त द्वारा जो भीषण सूजन होती है, उसे 'अलास' कहते हैं। यह रोग ज़्यादा बढ़कर, जिह्वा को जकड़ देता है और जिह्वा की जड़ में भीषण पाक उत्पन्न करता है। यह रोग त्रिदोषज अर्थात् (वात, पित्त, कफ) से युक्त है। अतः असाध्य भी है।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' में वर्णित इस रोग के लक्षण में कफ-पित्त के कारण जिह्वा के नीचे, उसको जकड़ने वाली कुछ उभरी हुई सूजन (ऊँचा शोथ) होता है, जो पकने पर मछली जैसी गन्ध वाला होता है, इसी रोग को अलस कहते हैं। इसमें जिह्वा का मांस सड़ने लगता है।[2]

'सुश्रुतसंहिता' में अलासजिह्वारोग के लक्षण इस प्रकार है :- कफ-रक्त के कारण मूर्ति रूप जैसा होकर, जीभ के नीचे गम्भीर सूजन उत्पन्न होकर जीभ को वात (वायु के कारण) जड़ बना देती है। पित्त के कारण बढ़ने पर जड़ में विशेष रूप से पक जाती है। इसलिए यह रोग सन्निपातजन्य होने से गम्भीर है।[3]

---

1. जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढ सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्त्तिः।
   जिह्वास तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वाभृशमेति पाकात्॥
   —भा० प्र० चि० प्र०, अ० 66, पृ० 712, श्लो० 90
2. कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः।
   मत्स्यगन्धिर्मवेत्पक्व सोऽलसो मांसशातनः॥
   —अ० हृ० उ० स्०, अ० 21, पृ० 523, श्लो० 33
3. जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्त्तिः।
   जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवद्धो मूले तु जिह्वा भृगशमेति पाकम्॥
   —सु० सं० चि० स्०, अ० 16, पृ० 277, श्लो० 38

5. **उपजिह्विका रोग :–** 'भावप्रकाश' में वर्णित उपजिह्विका रोग के लक्षण में जिह्वा के अग्र भाग के समान आकृति वाला कफ और रक्त से उत्पन्न होने के कारण जिह्वा से लार बहना, खुजली और जलन से युक्त ऐसी सूजन जो जिह्वा को ऊँचा उठा देता है, उसे उपजिह्विका रोग कहते हैं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार उपजिह्विका रोग के लक्षण इस प्रकार हैं — कफ रक्त के कारण उत्पन्न जीभ के अग्रभाग के समान शोथ जिह्वा को ऊपर उठाकर उत्पन्न होती है। इसमें लाल स्राव और जलन होती है, इस रोग को उपजिह्विका कहते हैं।[2]

(ii) रसनारोग की चिकित्सा :

जिह्वा रोग के नाम तथा उनके लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात् जिह्वा रोग की चिकित्सा कई प्रकार की हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार है :-

1. **वातज जिह्वारोग :–** 'भावप्रकाश' के अनुसार वातज जिह्वारोग चिकित्सा में जिह्वा के रोगों से दूषित रक्त निकलवाना आवश्यक होता है, जिह्वा पर पीपल और नीम तथा कड़वे द्रव्यों का कवल धारण करना उत्तम

---

1. जिह्वाऽग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्तः प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 712, श्लो॰ 91

2. जिह्वाग्ररूपः श्वयथुहि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूपरिवाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति॥
—सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 16, पृ॰ 277, श्लो॰ 39

होता है। वातजन्य जिह्वा के कण्टकों में सर्वप्रथम वातज ओष्ठ की चिकित्सा करनी चाहिए।[1]

'अष्टाङ्गहृदयम्' के अनुसार वातजन्य जिह्वाकण्टकों में वातजन्य ओष्ठकोप की चिकित्सा वर्तनी चाहिए। जैसे वातजन्य जिह्वारोग की चिकित्सा के लिए सर्जरस, मोम, गुग्गुलु, देवदार इनसे निकाला गया घी, मज्जा, वसा, तैलरूपी महास्नेह से स्निग्ध पिचु वातज जिह्वा रोग के लिए हितकारी है।[2]

'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में जो चिकित्सा कही गई है, वातजन्य जिह्वा कण्टकों में वही चिकित्सा करें। मोम मिश्रित घी, तेल, वसा और मज्जा — इन चार प्रकार के स्नेह को जिह्वा पर लगाना चाहिए और नाडी से स्वेद देने चाहिए।[3]

2. **पित्तज जिह्वारोग :–** 'भावप्रकाश' के अनुसार पित्तज जिह्वारोग की चिकित्सा में जिह्वा पर पित्तज जिह्वाकण्टक को रगड़कर दूषित रक्त

---

1. जिह्वागतविकाराणां शस्तं शोणितमोक्षणम्,
गुडूचीपिप्पलीनिम्बकवलः कटुभि सुखः।
ओष्ठप्रकोपऽनिलजे यदुक्तं प्राक्चिकित्सतन्,
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत्कार्य भिषजा खलु॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 712, श्लो॰ 92
2. कुर्याद्वातौष्ठकोपोक्तं कण्टकेष्वनिलात्मसु॥
महास्नेहेन वातौष्ठे सिद्धेनाक्तः पिचुर्हितः।
देवधूपमधूच्छिष्टगुग्गुल्वमरदारूभिः॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 525, श्लो॰ 42, 3
3. जिह्वागतानां साध्यानां कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम्॥
चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च।
वातजेऽभ्यञ्जनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान्॥
—सु॰ सँ॰ चि॰ स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 471, श्लो॰ 43, 3

निकाल लेना चाहिए। उसके बाद मधुर गण के द्रव्यों को धीरे-धीरे जिह्वा पर मलना चाहिए और उन्हीं से कुल्ला करना तथा नस्य लेना चाहिए।[1]

'चक्रदत्त' में वर्णित पित्तज जिह्वारोग की चिकित्सा में पित्तजन्य जिह्वाकण्टक रोग में सर्वप्रथम जिह्वा को खुरदरे सिंहोर आदि के पत्तों से रगड़कर दूषित रक्त निकाल लेना चाहिए। फिर मधुर संज्ञक काकोल्यादि गण की औषधि को शहद्ध में मिलाकर जिह्वा पर लेप करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शहद और तेल में मिलाकर गण्डूष जिह्वा पर धारण करना चाहिए। नस्य भी लेना चाहिए। इससे विशेष लाभ होता है।[2]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार इस रोग में पित्तजन्य जिह्वा कण्टकों में गोजी-शेफालिका आदि के पत्तों को जिह्वा पर रगड़कर दूषित रक्त निकाल कर मधुर प्रतिसारण और मधुर गण्डूष बरतना चाहिए। इसके अतिरिक्त नस्य बरतना चाहिए।[3]

"अष्टाङ्गहृदय" में भी पित्तज जिह्वारोग की चिकित्सा 'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार बताई गई है।[4]

---

1. पित्तजे परिवृष्टे तु निः सृते दुष्टशोणिते।
   प्रतिसारणगण्डूषनस्यञ्च मधुरं हितम्॥
   —भा॰प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 712, श्लो॰ 93
2. पित्तजेषु निघृष्टेषु निः स्नते दुष्ठ शोणिते।
   प्रतिसारणगण्डूषान्नस्यञ्च मधुरं हितम्॥
   —च॰ द॰, अ॰ 56, पृ॰ 447, श्लो॰ 2
3. पित्तजेषु विघृष्टेषु निः सृते दुष्टशोणिते।
   प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुर हितम्॥
   —सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 473, श्लो॰ 45
4. पित्तजातेषु घृष्टेषु रूधिरे स्त्रुते।
   प्रतिसारणगण्डूषनावनं मधुरैहितम्॥
   —अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 526, श्लो॰ 43

3. **कफज जिह्वारोग :–** 'चक्रदत्त' के अनुसार कफज जिह्वारोग की चिकित्सा में कफजन्य जिह्वाकण्टक में खुरदरे पत्तों से जिह्वा के कण्टकों को रगड़कर या किसी शस्त्र से खुरचकर (रगड़कर) दूषित रक्त निकालना चाहिए। इसके बाद पिप्पल्यादि गण की औषधियों का चूर्ण बनाकर शहद के साथ मिलाकर जिह्वा पर घिसना चाहिए अथवा सफेद सरसों और सेंधा नमक को जल में मिलाकर जिह्वा पर लगाना चाहिए तथा परवल नीम, बैंगन और क्षार मिले हुए कुलथी आदि के रसों के साथ भोजन करना चाहिए।[1]

'भावप्रकाश' में वर्णित कफज जिह्वारोग की चिकित्सा इस प्रकार है — कफज जिह्वाकण्टकों को छीलकर या खरोंचकर दूषित रक्त को निकालकर, जिह्वा पर पिप्पल्यादि की औषधियों को मधु के साथ मिलाकर मलना चाहिए।[2]

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार कफजन्य कण्टकों को जिह्वा पर खुरचकर दूषित रक्त निकालकर, पिप्पल्यादि गण को शहद के साथ मिलाकर प्रतिसारण करें।

---

1. कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्य्यन्तु प्रतिसारणम्॥
गृह्णीयात् कवलान् वाऽपि गौसर्षपसैन्धवैः।
पटोलनिम्बवार्त्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत्॥
—च॰ द॰, अ॰ 56, पृ॰ 447, श्लो॰ 4

2. कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 712, श्लो॰ 94

सफेद सरसों और सेंधा नमक के कवल को मुँह में रखें। नीम, पटोल, बड़ी कटेरी, यवक्षार के रस के साथ भोजन करना चाहिए।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार कफज जिह्वारोग की चिकित्सा के लिए कफजन्य जिह्वाकण्टकों में सरसों और त्रिकटु आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से प्रतिसारण करना चाहिए।[2]

4. **अलास जिह्वारोग :-** 'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार अलास जिह्वारोग की चिकित्सा में नूतन (नये) जिह्वालास के लिए ऊपर दी गई चिकित्सा करनी चाहिए। इस रोग में किसी शस्त्रादि से जिह्वा पर खुरचने का उपचार न करें। पुराने अलास रोग की चिकित्सा असाध्य है, नये अलास रोग की चिकित्सा साध्य है।[3]

5. **उपजिह्विका रोग :-** 'भावप्रकाश' में उपजिह्विका रोग की चिकित्सा के लिए उपजिह्वा को खुरचकर उस पर क्षार मलकर कुल्ला करना चाहिए और धूम्रपान द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सोंठ, मरिच, पीपर, जवाखार, हरड़ और चित्त, इन सबका चूर्ण बनाकर और इन्हीं से

---

1. कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे॥
गृह्णीयात् कवलांश्चापि गौरसर्षपसैन्धवैः।
पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत्॥
—सु॰ सं॰ चि॰, स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 473, श्लो॰ 46–47

2–3. तीक्ष्णैः कफोत्थेष्वेवं च सर्षपत्र्यूषणादिभिः।
नवेजिह्वालसेऽप्येवं, तं तु शस्त्रेण न स्पृशेत्॥
—अ॰ हृ॰ उ॰ स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 528, श्लो॰ 44

पकाया हुआ तेल उपजिह्विका की चिकित्सा करने के लिए प्रयोग करना चाहिए।[1]

'अष्टाङ्गहृदय' के अनुसार उपजिह्वा में अङ्गलि अथवा सागौन के पत्ते आदि से दूषित रक्त बहाकर, जिह्वा पर यवक्षार से रगड़ना चाहिए।[2]

'चक्रदत्त' में वर्णित उपजिह्विका की चिकित्सा में जीभ पर रुखे पत्तों को रगड़कर रक्त निकालकर धीरे-धीरे जवाखार को रगड़ना चाहिए। शिरोविरेचन, कवल धारण करना तथा धूम्रपान करना चाहिए।[3]

(ङ) रसनारोग को स्वस्थ रखने के घरेलू उपचार :

1. **दातुन :-** रसना को साफ करने के लिए दातुन को चीरकर जीभ का मैल बाहर निकाल देना चाहिए। इससे जिह्वा में रोग लगने की संभावना कम रहती है।[4]

2. **जिम्भी (जीभी) :-** रसना को साफ करने के लिए जिम्भी चाँदी की हो या स्वर्ण अथवा लकड़ी की होनी चाहिए। यह जिम्भी रसना के मल को

---

1. उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनामुपाचरेत्॥
व्योषक्षाराभयावह्निचूर्णमेतत्प्रघर्षणम्।
उपजिह्वाप्रशान्त्यर्थमेभिस्तेलञ्च पाचयेत्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 66, पृ॰ 712, श्लो॰ 95-96
2. उपजिह्वं परिस्त्राव्य यवक्षारेण घर्षयेत्।
कफघ्नैः शुण्डिका साध्या नस्यगण्डूषघर्षणैः॥
—अ॰ हृ॰ उ॰, स्॰, अ॰ 22, पृ॰ 528
3. उपजिह्वान्तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनामुपाचरेत्॥
—च॰ द॰, अ॰ 56, पृ॰ 448, श्लो॰ 7
4. अ॰ हृ॰ सू॰ स्॰, अ॰ 2, पृ॰ 28

साफ करने वाली, कोमल चिकनी और दस अङ्गुल लम्बी होनी चाहिए। इससे मुख की विरसता और दुर्गन्ध दूर होती है और जिह्वा में शोथ (सूजन), जड़ता भी दूर होती है।[1]

3. **लहसुन (Garlic) :-** उपजिह्वा शोथ में लहसुन का स्थानिक प्रयोग सिलव्हर नाइट्रेट (Silver Nitrate) की अपेक्षा अच्छा होता है।[2] इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के जिह्वारोग के घरेलू उपचार होते हैं।

---

1. जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्ण वार्क्षमेव च।
तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम्॥
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यशोफजाड्यहरं सुखम्।
दन्तदाढर्यकरं रूच्यं स्नेहागण्डूषधारणम्॥
—सु॰ सं॰ चि॰ स्॰, अ॰ 24, पृ॰ 478, श्लो॰ 13–14
2. भा॰प्र॰ नि॰, पृ॰ 111

षष्ठ अध्याय

घ्राणरोग एवं निदान

षष्ठ अध्याय

घ्राण रोग एवं निदान

(क) शरीर में घ्राण का स्थान :

मुख के ऊपर के भाग में दोनों नेत्रों के बीच में मस्तक के नीचे मुख के ऊपर जो जहाँ उन्नतभाव उसे नासिका कहते हैं दो छिद्रों वाला देखने में आता है, नासिका के वास्तव में दो भाग हैंः-

1. वह भाग जो बाहर से दिखाई देता है, इसको बहिर्नासिका या नाक कहते है।
2. वह भाग जो नथुनों में से दिखाई देता हैं यह भाग एक परदे द्वारा दाहिने और बाएँ दो भागों में विभक्त हैं, प्रत्येक भाग को नासा गुहा या नासा खात कहते हैं।

बहिर्नासिका या नाकः- नाक का नीचे वाला भाग मुलायम होता है और दबाने से भिच जाता है। ऊपर वाला भाग मस्तक के निकट और दृढ़ होता है। मुलायम भाग त्वचा, मांस और कारटिलेज से बनता है। कड़े भाग में अस्थियाँ हैं। नाक के दो ढालू पार्श्व हैं और उसकी तली में दो छिद्र होते हैं जिनको नकने, नथुने या नासारूध्र कहते हैं।

नासागुहा या नासा खातः- नासारन्ध्रों में से देखने से मध्य रेखा के इधर उधर एक नाली दिखायी देती है। यही नासा खात है। दोनों नासा खातों के बीच में एक खड़ा परदा लगा रहता है। परदे का अगला भाग कारटिलेज से बनता है

और पिछला भाग अस्थिकृत है।

प्रत्येक नासा गुहा के सम्बन्ध में ये चीज़े होती हैं:-

फ़र्श (गुहाभूमि), छत (गुहाच्छदि), भीतरी दीवार या अन्तः प्राचीर, बाहरी दीवार या बहिः प्राचीर, नासारन्ध्र, नासा पश्चिमद्वार।

फर्श :- जिन अस्थियों से कठिन तालु बनता है उन्हीं अस्थियों के ऊपर पृष्ठों से नासा गुहा का फ़र्श बनता है।

छतः- यह नई अस्थियों के अंशों के आपस में जुडने से बनती हैं। छत का बीच का भाग क्षितिज होता है और अगले और पिछले भाग ढालू होते हैं। छत के क्षितिज भाग के छिद्रों में से होकर घ्राण नाडी कपाल (सिर) में घुसती है। छत की चौडाई बहुत थोड़ी होती है।

भीतरी दीवारः- यह नाक के बीच का परदा होता है। जिसका हम नासा गुहा में पूर्व वर्णन कर चुके हैं।

बाहरी दीवार :- इसका अगला भाग जिससे नकना बनता है। मुलायम होता है इसम कारटिलेज होता है जिसके ऊपर त्वचा चढ़ी रहती है, त्वचा में मोटे बाल होते है, शेष भाग अस्थिकृत है।

नासारन्ध्र :- नासागुहा का अगला छिद्र कुछ-कुछ तिकोना होता है, उसमें मोटे-मोटे बाल रहते हैं, इन बालों में एक छलनी बन जाती है। जब वायु भीतर प्रवेश करती है, तो धूल मिट्टी के कण इन बालों से फँसकर बाहर ही रह जाते हैं।

नासापश्चिमद्वार :- नासागुहा पिछले द्वार द्वारा कण्ठ से सम्बन्ध रखता है। यह द्वार चौकोर होता है। कोमल तालु की ओट में रहने के कारण ये द्वार खोलने पर दिखाई नहीं देते है।

(ख) घ्राण के कार्य :-

नासिका के दो बड़े कार्य हैं :-

(i) श्वास क्रिया से वायु नासारन्ध्रों द्वारा नासिका में प्रवेश करती है।

(ii) दूसरा बड़ा कार्य घ्राणेन्द्रिय है जिससे गन्ध का बोध होता है।

घ्राण प्रदेश को छोड़कर नासिका की शेष श्लैष्मिक कला में केवल स्पर्श, पीड़ा, गर्मी, सर्दी प्रतीत करने की शक्ति है।[1]

(ग) घ्राणरोग के प्रकार :

'भावप्रकाश' के अनुसार नासिका रोगों के नाम और उनकी संख्या इस प्रकार है :-

1. पीनस अयवा अपीनस
2. पूतिनस्य (ozaena)
3. नासापाक
4. पूयशोणित
5. क्षवथु अथवा छींक (sneezing)
6. भ्रंशथु अथवा नासाभ्रंश (Chronic Nasal Discharge)

---

1. ह० श० र०, अ० 24, पृ० 668-681

7. दीप्ति

8. प्रतिनाह

9. परिस्राव

10. नासाशोष

11–15. पाँच प्रकार के प्रतिश्याय अथवा जुकाम (coryza)

16–22. सात प्रकार के अर्बुद (cancer)

23–26. चार प्रकार के अर्श

27–30. चार प्रकार के शोथ

31–34. चार प्रकार के रक्तपित्त अथवा नकसीर (epistaxis)[1]

(घ) घ्राणरोग के लक्षण एवं चिकित्सा :

(i) घ्राणरोग के लक्षण :

1. पीनस अथवा अपीनस रोग :

'भावप्रकाश' के अनुसार पीनस रोग में श्वास द्वारा शोषित कफ से नासामार्ग कभी रुक जाता है, कभी गीला हो जाता है, कभी गर्म प्रतीत होने लगता है इस रोग में सुगन्ध और दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं होता है। पीनसोत्पाद रोगों द्वारा जिह्वा भी दूषित हो जाती है। जिससे मधुरादि रसों का भी ज्ञान नहीं होता

---

1. आदौ च पीनसः प्रोक्तः पूतिनस्यस्ततः परम्।
नासापाकोऽत्र गणितः पयशोणितमेव च॥
क्षवथुर्भ्रशथुर्दीप्तिः प्रतीनाहः परिस्रवः।
नासाशोषः प्रतिश्यायाः पञ्च सप्तार्बुदानि च॥
चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोथाश्चत्वारि तानि च।
रक्तपित्तानि नासायां चतुस्त्रिंशद्र स्मृताः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 1–3

है और इसके अतिरिक्त नासिका में कीड़े भी पड़ जाते हैं। इस रोग को 'अपीनस' भी कहते हैं, क्योंकि पीनस तथा अपीनस नासिका रोग दोनों प्रयोग सिद्ध होते हैं।[1]

'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित अपीनस रोग में जिस रोगी की नासिका श्वास लेते समय रुकती है, जलती है, गीली रहती है, जो रोगी श्वास के द्वारा गन्ध एवं रसों को नहीं पहचानता है, यह रोग वायु और कफ से उत्पन्न होता है।[2]

2. पूतिनस्य रोग :

'भावप्रकाश' के अनुसार पूतिनस्य रोग में गला और तालुमल में स्थित वायु जब दुष्ट दोषों (पित्त–कफ–रक्त) द्वारा दुर्गन्धित होती हैं, मुख और नाक से दुर्गन्ध आने लगती है। इस रोग को 'पूतिनस्य' नासिका रोग कहते हैं।[3]

'माधवनिदान' में वर्णित पूतिनस्य नासिका रोग में गले और तालुमूल में स्थित वायु मूर्च्छित हुए कफ, पित्त और रस द्वारा दूषित दुर्गन्धि वाला होकर मुख और नासिका से निकलता है।[4]

---

1. आनह्यते शुष्यति यस्य नासा प्रक्लेदमायाति तु धूप्यते च।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येदिह पीनसेन॥
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात्प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 4–5

2. आनह्यते यस्य विधूप्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसे।
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 649

3. दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले सन्दूषितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 6

4. दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले संमूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम्॥
—म॰ नि॰, अ॰ 58, श्लो॰ 2

3. नासापाक रोग :

'भावप्रकाश' के अनुसार नासापाक नासिका रोग लक्षण में नासिकागत पित्त नाक में बहुत से व्रण, पाक गीलापन और सड़न पैदा करता है।[1]

'सश्रुतसंहिता' में वर्णित रोगी की नासिका में स्थित पित्त छोटी-छोटी फुंसियाँ कर पैदा देता है और अत्यधिक पाक भी हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त नाक में आर्द्रता और सड़न भी देखी जाती है। इस रोग को नासापाक कहते हैं।[2]

4. पूयशोणित अथवा पूयरक्त रोग :

'भावप्रकाश' में पूयरक्त रोग में दूषित दोषों द्वारा या माथे में किसी तरह चोट लगने से नासिकामार्ग से रक्तमिश्रित पूय (पीब) होकर बहने लगता है।[3]

'सुश्रुतसंहिता' में पूयरक्त रोग का वर्णन 'भावप्रकाश' के समान मिलता है।[4]

---

1. घ्राणाश्रितं पित्तमरुंषि कुर्याघस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 7
2. घ्राणाश्रितं पित्तमरुंषि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथवापि यत्र दृष्टौ॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 8
3. दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः।
नासा स्रवेत्पूयससृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं द्रवदन्ति रोगम्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 8
4. दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तु।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम्॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 10

5. क्षवथु अथवा छींक रोग :

'भावप्रकाश' में वर्णित क्षवथु नासिका रोग में नासिका के शृङ्गाटक नामक मर्म में स्थित वायु जब दूषित होकर नासिका के द्वारा कफ के साथ बार-बार आवाज़ के साथ निकलती है, तो वैद्य लोग इस रोग को 'दोषजन्य छींक' कहते हैं।[1]

'माधवनिदान' के अनुसार प्रायः कफ को आगे कर अथवा प्रायः कफ के साय-साथ अत्याधिक शब्द करता हुआ एवं घ्राणश्रित मर्म में दुष्ट वायु बड़े वेग से जिस मनुष्य की नासिका से क्षवथुरोग कहते हैं।[2]

6. भ्रंशथु (नासाभ्रंश) रोग :

'भावप्रकाश' के अनुसार पित्तद्वारा सिर अथवा माथे के गर्म होने पर पहले का ईकट्ठा हुआ गाढ़ा, दूषित और नमकीन कफ नासिका से गिरता है तो यह रोग 'भ्रंशथु' नासिका रोग कहलाता है।[3]

7. दीप्ति रोग :

'माधवनिदान' के अनुसार दीप्ति से नासिका के लक्षण में नासिका में

---

1. घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति।
   कफानुयातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं गदज्ञाः॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 9
2. घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति।
   कफानुयातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः॥
   —म॰ नि॰, अ॰ 58, श्लो॰ 5
3. प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
   प्राक्सञ्चितो मूर्धनि पित्ततप्ते तं भ्रंशथुं व्याधिमुदाहरन्ति॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 11

जलन के साथ धुएँ की तरह श्वास वायु निकलती है तथा नासिका जलती हुई सी प्रतीत होती है।[1]

8. **प्रतिनाह रोग :**

'भावप्रकाश' में वर्णित प्रतिनाह नासिका रोग के लक्षण में वायु के साथ कफ जब श्वास मार्ग को बन्द कर देता है तो यह रोग 'प्रतीनाह रोग कहलाता है।[2]

'माधवनिदान' में भी प्रतिनाह नासिका रोग के भावप्रकाश के समान लक्षण बताये गए है।[3]

9. **परिस्राव रोग :**

'भावप्रकाश' के अनुसार स्राव रोग के लक्षण में नाक से पीत, सफेद या पतला कफ दोष बाहर निकलता है, तो यह रोग 'नासास्राव' कहलाता है।[4]

'सुश्रुत संहिता' के अनुसार जिस रोगी की नासिका से निरन्तर स्वच्छ पानी के समान, बिना किसी विशेष रंग का स्राव बहता है। यह स्राव विशेष कर रात्रि

---

1. घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिः सरेद् धूम इवेह वायुः।
   नासा प्रदीप्तव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति॥
   —म॰ नि॰, अ॰ 58, श्लो॰ 8
2. उच्छ्वासमार्गन्तु कफः सवातो रुन्ध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 23
3. उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्।
   —म॰ नि॰, अ॰ 58, श्लो॰ 9
4. घ्राणाद्धन पीतसितस्तमुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम्॥
   —भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, पृ॰ 691, श्लो॰ 14

में बहता है। यह रोग परिस्राव कहलाता है।[1]

10. नासाशोष रोग :

'भावप्रकाश' अनुसार नासिका में नासाशोष रोग के लक्षण इस प्रकार है– पित और वायु नासिका की श्लेष्मा को सुखा देते है, जिससे श्वास लेने में कुछ कठिनाई प्रतीत होती है।[2]

11–15. पाँच प्रकार के प्रतिश्याय अथवा जुकाम :

भावप्रकाश के अनुसार प्रतिश्याय रोग का पूर्वरूप बार–बार छींक आना सिर का भारी प्रतीत होना, जकराहट, शरीर में पीडा होना, रोमांच होना तथा अन्य विदेहोक्त लक्षण जैसे नासिका से धुआँ निकलते हुए प्रतीत होना, तालु में जलन और इसके अतिरिक्त नाक तथा मुख से पानी निकलता है।[3]

'भावप्रकाश' के अनुसार प्रतिश्याय के वातज, पित्तज और कफज रोग के लक्षण इस प्रकार है :–

11. **वातज प्रतिश्याय** के लक्षण में नासिका बार–बार रुकी सी और खुली सी हो जाती है।

---

1. अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्य विवर्ण स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत्॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 16
2. घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
कृच्छ्राच्छ्वसित्यूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन्स नासापरिशोष उक्तः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 10
3. क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽभिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गम परिहृष्टोमता।
उपद्रवाश्र्वाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरः सराः स्मृता॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 18

नाक से पतला पानी जैसा स्राव निकलता है। गला, तालु, ओंठ सूख जाते है कनपट्टी में सूई कोंचने जैसी पीड़ा होती है। छींक आने के साथ-साथ मुख का स्वाद फीका हो जाता है, आवाज़ बिगड़ जाती है।

12. **पितज प्रतिश्याय रोग** के लक्षण में नाक से गर्म और कुछ पीला स्राव होता है, रोगी दुर्बल होने से पाण्डुवर्ण सा दिखता है। सन्तप्त (उष्णता) का अधिक अनुभव करने वाला और गर्मी से बेचैन रहता है। नाक से धुआँ जैसा निकलने के साथ-साथ उल्टी भी होती है।

13. कफ प्रतिश्याय रोग के लक्षण में नासिका से श्वेत, ठण्डा और कफ का स्राव अधिक मात्रा में होता है। रोगी का रङ्ग श्वेत हो जाता है आँखें कुछ फूली हुई रहती हैं तथा सिर भारी सा प्रतीत होता है और इसके साथ गला, तालु ओठ और सिर में अत्याधिक खुजली होती है।[1]

14. दुष्ट प्रतिश्याय रोग :

'माधवनिदान' में वर्णित दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण में नासिका कभी गीली हो जाती है, कभी सूख जाती है, कभी बन्द हो जाती है और कभी खुल जाती

---

1. आनद्धाऽपिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी।
गलताल्वोष्टशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा॥
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव।
भवेत्स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके॥
उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात्स्रवति पैत्तिके।
कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः॥
घ्राणात्कफकृते श्वेतः कफः शीतः स्रवेद बहुः।
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः।
गलताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरतिपीडितः॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 65, श्लो० 18-22

है। निःश्वास में दुर्गन्ध आती है, रोगी को सुगन्ध और दुर्गन्ध मालूम नहीं पड़ती।[1]

15. रक्तज प्रतिश्याय रोग :

'माधवनिदान' के अनुसार रक्तज प्रतिश्याय रोग में नासिका में रक्त का स्राव होता है। इस रोग में रोगी की आँखें लाल होती है। उसका वक्ष चोट लगने की भाँति पीड़ित प्रतीत होता है। दुर्गन्धित श्वास से युक्त मुख वाला होता है और रोगी गन्ध ज्ञान की शक्ति लेने में असमर्थ हो जाता है।

'माधवनिदान' में वर्णित इन प्रतिश्यायों की चिहकत्सा नकरने वाले मनुष्यों में होने वाले प्रतिश्याय बिगड़ जाते हैं और असाध्य हो जाते हैं। सभी प्रतिश्यायों की चिकित्सा न करने पर सफेद, चिकने तथा सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय कृमियुक्त प्रतिश्यायों का लक्षण क्रिमियों के कारण होने वाले सिर रोग के समान होता है।[2]

1. प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्र्व परिशुष्यति।
पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रिभयते तथा॥
विव्रासोवाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च।
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम्॥
—म॰ नि॰, अ॰ 58, श्लो॰ 21–22

2. रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते॥
ताम्राक्षश्र्व भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः।
दुर्गन्धोच्छ्रासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः॥
सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥
मूर्च्छन्ति चात्रक्रिमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः।
क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लखणम्॥
—म॰ नि॰, अ॰ 58, श्लो॰ 23–26

'भावप्रकाश' के अनुसार नासिका में (16–22) अर्बुद सात प्रकार के होते हैं, जैसे–वातज, पित्तज, कफज, सन्निपात्तज, रक्तज, मांसज और मेदज।

23–26. अर्श चार प्रकार के होते हैं जैसे–वातज, पित्तज, कफज, सन्निपात्तज।

27–30. शोथ चार प्रकार के होते है जैसे–वातज, पित्तज, कफज,सन्निपातज।

31–34. रक्तपित्त भी चार प्रकार के होते है, जैसे– वातज, पित्तज, कफ सन्निपातज। इनके लक्षण पूर्वोक्त वातजादि, अर्बुद तथा शोथादि की भांति होते हैं।[1]

(ii) घ्राणरोग की चिकित्सा :

घ्राण रोग की चिकित्सा कई प्रकार से होती हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार है:–

1. **पीनस अथवा अपीनस रोग :** 'भावप्रकाश' के अनुसार नासारोग की चिकित्सा में सभी प्रकार के पीनस रोगों के उत्पन्न होते ही, मनुष्य को सुख प्राप्त करने के लिए सदैव गुड़ मरिच और दही खाना चाहिए।[2]

'चक्रदत्तः' के अनुसार पीनस नासिका रोग की चिकित्सा कई प्रकार की है, उनमें से दो प्रकार की चिकित्सा इस प्रकार है:–

(क) पञ्चमूल बृहत् या स्वल्प से सिद्ध किये गये दूध या चित्रकहरीतकी,

---

1. अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्श श्चतुर्विधम्।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 31

2. सर्वेषु सर्वकालं पीनसरोगेषु जातमात्रेषु।
मरिचं गुडेन दध्ना भुञ्जीत नरः सुखं लभते॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 34

सर्पिगुड़ या षडङ्गयूष पीने से पीनस रोग शान्त होता है।

[विमर्श–बृहत् या लघु पञ्चमूल 2 तोला 2 तोला, दूध 16 तोला, जल 64 तोला शेष 16 तोला रखना कहिए।]

(ख) पीनस रोग की चिकित्सा के लिये सोने के समय अत्यन्त शीतल जल अधिक मात्रा में पीना चाहिए।[1]

2. **पुतिनस्य रोग** :– 'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित अपीनस और पूतिनस नासिका रोग की चिकित्सा में रोगी को स्नेहन, स्वेदन देना चाहिए। तीखा, कम और थोड़ा भोजन समय पर देना चाहिए। पीने के लिये गर्म पानी और समय पर धूमपान भी कराना चाहिए।[2]

3. नासापाक रोग :

'चक्रदत्त' के अनुसार नासापाक नासिका रोग की चिकित्सा में नासिका के बाहर लेपादि तथा नासिका के अन्दर स्नेहपानादि पित शामक चिकित्सा करनी चाहिए। उसके बाद रक्तमोक्षण कराके गूलर आदि क्षीर वृक्षों की छाल से कषाय से सींचना चाहिए और इनके चूर्ण का घी के साथ मिलाकर लेप करना चाहिए। पूय एवं रक्त का स्राव एवं रक्तपित्त को नष्ट करने वाले कषाय तथा

---

1. पञ्चमूलीशृतं क्षीर स्याच्चित्रकहरीतकी।
सर्पिर्गुहश्च षडङ्गयूषः पीनसशान्तये॥
य पिबति शयनकाले शयनारूढः सुशीतलं भूरि।
सलिलं पीनसयुक्तः स मुच्यते तेन रोगेण॥
—च॰ द॰, अ॰ 58, श्लो॰ 1, 17

2. पूर्वोद्दिष्टे पूतिनस्ये च जन्तोः स्नेहस्वेदौ छर्दनं स्रंसनं च।
युक्तं भक्तं तीक्ष्णमल्पं लघुस्या दुष्णं तोयं धूमपानं च काले॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 3

नस्य का प्रयोग करना चाहिए।[1]

'सुश्रुत-संहिता' के अनुसार नासापाक रोग की चिकित्सा में नासिका के बाहर और अन्दर पित्तनाशक चिकित्सा सम्पूर्ण रूप से करनी चाहिए। रक्त को निकालकर बरगद आदि क्षीरी वृक्षों की छाल घी के साथ मिलाकर बाह्य उपचार लेप, परिषेकादि तथा आभ्यन्तर उपचार, आहार, स्नेहपान, विरेचनादि से चिकित्सा करनी चाहिए।[2]

4. पूयशोणित रोग :- 'सुश्रुतसंहिता' वर्णित पूयशोणित अथवा पूयरक्त नासिका रोग की चिकित्सा विसर्पनाडी स्तन रोग में कही जाने वाली नाडी व्रण की चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पूयरक्त रोग में भली प्रकार वमन होने पर अवपीड़न नस्य देना चाहिए। तीक्ष्णधूम और शोधन नस्य देना चाहिए।[3]

5. क्षवथु अथवा छींक रोग :

'भावप्रकाश' के अनुसार क्षवथु नासिका रोग की चिकित्सा के लिए सोंठ, कूट, पीपर, बेल, मुनक्का इन सबके कल्क और इन्हीं के काढ़े से तेल या घी

---

1. नासापाके पित्तहृत् संविधानं कार्यं सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च।
हरेद्रक्तं क्षीरिवृक्षत्वचश्च योज्याः सेके सघृताश्च प्रदेषः।
पूयास्रक्तपित्तघ्ना कषायाः नावनानि च॥
—च॰ द॰, अ॰ 58, श्लो॰ 9
2. नासापाके पित्तहृत्संविधानं कार्यं सर्वं बाह्यभाभ्यन्तरं च।
हत्वा रक्तं क्षीरवृक्षत्वचश्च साज्याः सेका योजनीयाश्च लेपाः॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 5
3. वक्ष्यामूर्ध्वं रक्तपित्तोपशातिं नाडीवस्यात् पूयरक्ते चिकित्सा।
वान्ते सम्यक् चावपीडं वदन्ति तीक्ष्णं धूमं शोधनं चात्र नस्यम्॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 6

पकाकर नस्य लेना चाहिए, जिससे बहुत छींकों का आना बन्द हो जाता हैं।[1]

'सुश्रुत संहिता' में क्षवथु नासिका रोग में प्रधमन नस्यनाडी से देना चाहिए। शिरोविरेचन द्रव्यों का चूर्ण नासा में फूंके। प्रधमन नस्य एवं चूर्णों से कफ कम हो जाने पर वातरोग नाशक स्वेद शिरपर देना चाहिए। स्निग्धधूम और अन्य जो हितकारी (शरोवस्ति आदि) हो, वह भी चिकित्सा करनी चाहिए।[2]

'चक्रदत' के अनुसार क्षवथु नासिका रोग की चिकित्सा, "भावप्रकाश" के समान करनी चाहिए जिसका पूर्व (पृ. 112) में वर्णन हो चुका है।[3]

6. भ्रंशथु अथवा नासाभ्रंश रोग :-

'भावप्रकाश' के अनुसार भ्रंशथु नासिका रोग की चिकित्सा के लिये घी, गुग्गुल और मोम इनकों मिलाकर यत्नपूर्वक इनके धुएँ का नस्य लेने से भ्रंशथु और छींक रोगी में नाक से गाढ़ा कफ गिरना बन्द हो जाता है।[4]

'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित भ्रंशथु नामक नासिका रोग की चिकित्सा के लिए प्रधमन नाक की नाडी से देना चाहिए। शिरोविरेचन द्रव्यों का चूर्ण नासिका में

1. शुण्ठीकुष्ठकणाबिल्वद्राक्षाकल्ककषायवत्।
तैलं पक्वमथाज्यं वा नस्यात्क्षवथुनाशनम्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 65, श्लो० 43
2. क्षेप्यं नस्यं मूर्धवैरेचनीयै र्नाड्य चूर्णं क्षवथो भ्रंशयौ च।
कुर्यात् स्वेदान् मूर्ध्नि वातामयध्नान् स्निग्धान् धूमान् यद्यदन्यद्धितं च॥
—सु० सं० उ० त०, अ० 23, श्लो० 7
3. शुण्ठीकुष्ठकणाबिल्वद्राक्षाकल्ककषायवत्।
साधितं तैलमाज्यं वा नस्यं क्षवथुरूक्प्रणुत्॥
—च० द०, अ० 58, श्लो० 5
4. घृतगुग्गुलुमिश्रस्य सिक्थकस्य प्रयत्नतः।
धूमं क्षवथुरोगघ्नं भ्रंशयुघ्नञ्च निर्दिशेत्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 65, श्लो० 6

फूंकें। प्रधमन नस्य एवं चूर्णों से कफ कम हो जाने पर वातरोग नाशक स्वेद सिर पर देना हिए। स्निग्धधूम तथा अन्य जो हितकारी (शिरोवस्ति आदि) हों वे भी करने चाहिए।[1]

7. दीप्ति रोग :

'भावप्रकाश' में दीप्ति नामक नासिका रोग की चिकित्सा में सिर में तनिक स्वेद करके नीम की पत्तियों का रस और रसौत के रस से नस्य लेना चाहिए नस्य लेने के बाद दूध अथवा जल से नासिका का अवसेचन करना चाहिए और भोजन में मूँग का यूष (काढ़ा) लेना चाहिए।[2]

'चक्रदत्त' के अनुसार दीप्ति नामक रोग में पैत्तिक नासारोग में पित्तनाशक मधुर तथा शीतल चिकित्सा करनी चाहिए। नासारोग में स्नेहपान, स्निग्ध धूम तथा शिरोविरेचन का प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिये।[3]

'सुश्रुतसंहिता' में वर्णित दीप्ति नासिका रोग की चिकित्सा चक्रदत्त में दीप्ति नासिका रोग की चिकित्सा के समान है, जिसका पूर्व — में वर्णन हो चुका है।[4]

---

1. क्षेप्यं तस्यं मूर्धवैरेचनीयं र्नाडचा चूर्णं क्षवथौ भ्रंशथौ च।
कुर्यात् स्वेदान् मूर्ध्नि वातामयघ्नान् स्निग्धान् धूमान् यद्यदन्यद्धितं च॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 6

2. नस्यं हितं निम्बरसाञ्जनाभ्यां दीप्ते शिरः स्वेदनमल्पशस्तु।
नस्ये कृते क्षीरजलावसेफाञ्छवसन्ति भुञ्जीत च मुद्गयूषैः॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 44

3. दीप्ते रोगे पैत्तिके संविधानं सर्वं कुर्य्यात् स्वादु यच्छीतलञ्च।
नासानाहे स्नेहपानं प्रधानं स्निग्धा धूमा मूर्ध्नि वस्तिश्च नित्यम्॥
—च॰ द॰, अ॰ 58, श्लो॰ 11

4. दीप्ते रोगे पैत्तिकं संविधानं कुर्यात् सर्वं स्वादु यच्छीतलं च॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 6

8. प्रतिनाह रोग :

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार प्रतिनाह नासिका रोग की चिकित्सा में भोजन के बाद स्नेहपान करवाना चाहिए। बला तैल पान, अभ्यंग शिरोविरेचन आदि सब कामों में बरतना चाहिए और वातव्याधि में गए दूसरे अणुतैल आदि भी बरतनें चाहिए।

9. परिस्राव रोग :

'सुश्रुतसंहिता' के अनुसार परिस्राव नासिका रोग की चिकित्सा में शिरोविरेचन द्रव्यों का चूर्ण नाक में डालना चाहिए। देवदारू चित्रक से तीक्ष्ण धूम देना चाहिए और भोजन में बकरी का मांस खाना भी हितकारी है।[1]

'भावप्रकाश' में वर्णित नासास्राव रोग में उपर्युक्त चूर्ण को नली द्वारा नाक में डालना चाहिए और उपयोगी अवपीडन नस्य लेना चाहिए। देवदार और चित्त का तीक्ष्ण धूआँ लेना चाहिए और इसके साथ बकरे का मांस भी खाना चाहिए।[2]

10. नासाशोष रोग :

'सुश्रुत-संहिता' में नासाशोष रोग की चिकित्सा में दूध से निकाला घी

---

1. नासानाह स्नेहपानं प्रधानं स्निग्धा धूमा मूर्धबस्तिश्च नित्यम्।
बलातैलं सर्वथैवोपयोज्यं वातव्याधावन्यदुक्तं च यद्यत्॥
नासास्रावे घ्राणतश्चूर्णमुक्तं जाड्या देयं योऽवपीडश्च तीक्ष्णः।
तीक्ष्णं धूमं देवदार्वग्निकाभ्यां मांसं वाऽऽजं युक्तमत्रादिशन्ति॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 9, 10

2. नासास्रावे घ्राणयोश्चूर्णमुक्तं नाड्य देयं येऽवपीडाश्च पथ्याः।
तीक्ष्णान्धूमान्देवदार्वग्निकाभ्यां मांसं त्वाजं पथ्यमत्रादिशन्ति॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 45

हितकारी है। अणु कल्पन से बनाया तेल नस्य में देना चाहिए। भोजन के साथ घृतपान, जांगल मांस के साथ भोजन, स्नेहन करना चाहिए और स्नैहिक धूम (मधूच्छिष्टादि) उपयोग करना चाहिए।[1]

11–15. पाँच प्रकार के प्रतिश्याय अथवा जुकाम :

'भावप्रकाश' के अनुसार पाँच प्रकार के प्रतिश्याय वातज, पित्तज, कफज, दुष्ट और रक्तज प्रतिश्यायों की चिकित्सा इस प्रकार है:–

(क) समस्त प्रतिश्यायों की चिकित्सा में धर में रहना चाहिए और मोटे कपड़े से सिर को लपेटे (ढके) रहना लाभाकारी होता है।

(ख) घी, तेल और सत्तू इन सबको मिलाकर धूम्रपान करने से प्रतिश्याय, खाँसी और हिचकी अवश्य नष्ट होती है।

(ग) प्रतिश्याय में सर्वगन्ध दालचीनी, तेजपत्ता, बड़ी इलाची नागकेशर का चूर्ण अथवा कलौंजी सूंघनी चाहिए।

(घ) समस्त प्रतिश्यायों में भाँग को पुटपाक द्वारा पकाकर तेल और सैन्धा नमक के साथ सेवन करना चाहिए और यह समस्त प्रतिश्यायों की परमौषधि है।

(ङ) सिर में मालिश और स्वेदन करने से, नस्य लेने से किञ्चित् उष्ण भोजन द्वारा, वमन द्वारा तथा घृतपान द्वारा समस्त प्रतिश्यायों की दोषानुकूल चिकित्सा करनी चाहिए।

---

1. नासाशोषे क्षीरसर्पिः प्रधानं सिद्धं तैलं चाणुकल्पेन नस्यम्।
सर्पिः पान भोजनं जाङ्गलैश्च स्नेहः स्वेदः स्नैहिकश्चापि धूमः॥
—सु॰ सं॰ उ॰ त॰, अ॰ 23, श्लो॰ 11

(च) कृमियुक्त दुष्ट प्रतिश्याय में कृमिनाशक चिकित्सा के लिये क्रम, कृमिघ्न नस्य और कृमिघ्न औषधियों की बुद्धिमान् वैद्य से चिकित्सा करवानी चाहिए।[1]

'चक्रदत्त' में वर्णित पाँच प्रकार के प्रतिश्याय वातज, पित्तज रक्तज और दुष्ट प्रतिश्यायों की चिकित्सा इस प्रकार हैः-

(क) वातज प्रतिश्याय (जुकाम) में पञ्चलक्षण से या वातघ्न प्रथमगण की औषधि से कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध घृत पीना चाहिए।

(ख) पित्तज प्रतिश्याय में मधुर पदार्थों से सिद्ध घी पीना चाहिए और शीतल सेक करना चाहिए। इसके अतिरिक्त लेपयुक्त उपचार करना चाहिए।

(ग) कफज प्रतिश्याय में घृतपान द्वारा रोगी को स्निग्ध करके तिल तथा उड़द से बनाया गया मैनफल के चूर्ण से युक्त यवागू पिलाकर वमन कराना

---

1. प्रतिश्यायेषु सर्वेषु गृहं वातविवर्जितम्।
वस्त्रेण गुरुणा तेन शिरसो वेष्टनं हितम्॥
बचैतच्चूर्णमाघ्रातं प्रतिश्यायं विनाशयेत्।
घृततैलसमायुक्त शक्तुधूमं पिबेन्नरः॥
सधूमः स्यात्प्रतिश्यायकासहिक्काहरः परः।
प्रतिश्याये पिबेद् धूमं सर्वगन्धसमायुतम्॥
चातुर्जातकचूर्णं वा घ्रेयं वा कृष्णजीरकम्॥
पक्वं जयापत्रं तैलसैन्धवसंयुतम्।
प्रतिश्यायेषु सर्वेषु शीलितं परमौषधम्॥
पल्यः शिग्रबीजानि विडङ्गमरिचानि च।
अवपीडः प्रशस्तोऽयंप्रतिश्यायनिवारणे॥
शिरसोऽभ्यञ्जनैः स्वेदैर्नस्यैर्मन्दोष्णभोजनैः।
वमनैर्घृतपानैश्च तान्यथास्वमुपाचरेत्॥
कृमिघ्ना ये क्रमाः प्रोक्तास्तान्वै कृमिषु योजयेत्।
नावनानि कृमिघ्नानि भेषजानि च बुद्धिमान्॥
—भा॰ प्र॰ चि॰ प्र॰, अ॰ 65, श्लो॰ 46-53

चाहिए इसके बाद कफनाशक उपचार करना चाहिए। जैसे इमली के पत्तों का यूष (काढ़ा) पीना चाहिए। इस प्रकार जब कफ पक जाए तो शिरोविरेचन, शिर में अभ्यङ्ग करना, स्वेद, नस्य, कटु तथा खट्टे पदार्थों का भोजन, वमन, तथा घृतपान आदि उपाय करने चाहिए।

(घ) छोटी पीपल सहिजन के बीज, बायविडङ्ग तथा काली मिर्च इन सबका चूर्ण करके नस्य लेने से समस्त प्रतिश्याय नष्ट हो जाते हैं।[1]

(ङ) भोजन के बाद ही उबाले हुए गरम उड़द का सेवन करने से सब दोषों से उत्पन्न हुआ चिरकालीन (लम्बे समय से) प्रतिश्याय नष्ट हो जाता है।[2]

'भावप्रकाश' के अनुसार अर्बुद्ध, अर्श, शोथ, रक्तपित्त रोगों की चिकित्सा पूर्वोक्त चिकित्सा की भाँति करनी चाहिए।[3]

---

1. वातिके तु प्रतिश्याये पिबेत् सर्पिर्यथाक्रम्।
पञ्चभिर्लवणैः सिद्धं प्रथमेन गणेन च॥
नस्यादिषु विधिं कृत्स्नमवेक्षेतादितेरितम्।
पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः शृतम्।
परिषेकान् प्रदेहांश्च कुर्य्यादपि च शीतलान्॥
कफजे सर्पिषा स्निग्धं तिलमाषविपक्वया।
यवाग्वा वामयित्वा वा कफघ्नं क्रममाचरेत्॥
प्रतिश्याये नवे शस्तो यूषश्चिादलोद्भवः।
ततः पक्वं कफं ज्ञात्वा हरेच्छीर्षविरेचनैः॥
शिरसोऽभ्यञ्जुनस्वेदनस्यकट्वम्ल भोजनैः।
वमनैर्घतपानैश्च तान् यथास्वमुपाचरेत्॥
पिप्पल्यः शिग्रूबीजानि विडङ्गमरिचानि च।
अवपीडः प्रशस्तोऽयं प्रतिश्यायनिवारणः।
—च० द०, अ० 58, श्लो० 12-14, 20, 21, 23

2. भक्षयति भुक्तमात्रे सलवणमुत्स्विन्नमाषमत्युष्णम्।
स जयति सर्वसमुत्थं चिरजातञ्च प्रतिश्यायम्॥
—च० द०, अ० 58, श्लो० 22

3. रक्तपित्तानि शोथांश्च तथाऽर्शांस्यर्बुदानि च।
नासिकायां स्युरेतेषां स्वं स्व कुर्याच्चिकित्सतम्॥
—भा० प्र० चि० प्र०, अ० 65, श्लो० 54

(ङ) घ्राण को स्वस्थ रखने के घरेलू उपचार :

1. **प्याज़ (Onion) :–** नासिका से रक्तस्राव होने पर प्याज के रस का नस्य करना चाहिए।

2. **शीतलचीननी (Cubebs) :–** 'कङ्कोल' नामक सुगन्ध द्रव्य है जो शीतलचीनी के नाम से प्रसिद्ध है। नाक की श्लेष्मा को कम करने के लिये शीतलचीनी से नस्य कराना चाहिए।[1]

3. **पीपलपत्र (Peepal leaf) :–** रक्तपित्त अथवा नकसीर रोग लिए पीपल के पत्तों को पीस कर रस निकाल लें। पाँच-पाँच बूंद दोनों नासिका में टपका देने से शीघ्र ही नकसीर बन्द हो जाती है।

रक्तस्राव में पाँच-दस मिली. पीपल के पत्तों का रस प्रातः खाली पेट खाने से लाभ होता है।[2]

(च) घ्राण रोग से बचने के लिए विभिन्न सावधानियाँ :

1. नासिका रोग से बचने के लिए सामान्य स्वास्थ्य को बढ़ाना चाहिए। गर्म और सर्द तथा नम जलवायु सहने योग्य शरीर को बना लेना चाहिए, इससे नासिका रोग होने की संभावना कम रहती है।
2. धूलादि से बचने के लिए रूमाल का प्रयोग करना चाहिए।
3. नासिका रोग से पीड़ित व्यक्ति की खाँसी और छींक के द्वारा रोग के जीवाणु आस-पास की वायु में मिल जाते हैं। इसलिए ऐसे रोगियों के सम्पर्क से बचना चाहिए।

---

1. भा० प्र० नि०, पृ० 113, 217
2. औ० द०, पृ० 48

4. रोग का अन्य स्वस्थ व्यक्तियों में प्रसार रोकने के लिए रोगी को एक रूमाल मुँह या नाक के सामने रखकर खाँसना, छींकना चाहिए, ताकि दूसरों में उसका उपसर्ग न फैले और इसके अतिरिक्त रोगी को विसंक्रामक द्रव्यों की भाप और उन्हीं का मलहम आदि नाक में प्रयोग करना चाहिए।

5. यदि नासिका रोग अधिक बढ़ जाये तो उसकी समुचित चिकित्सा वैद्य से करवानी चाहिए।[1]

---

1. भा० प्र० चि० प्र०, अ० 65, पृ० 692

उपसंहार

उपसंहार

आयुर्वेद का महत्त्व जितना प्राचीन काल में था, उससे कहीं अधिक महत्त्व आज के युग में भी देखने को मिलता है। प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के रोगों के कारण, लक्षण, चिकित्सा, औषधियों एवं उपचार के विषय में आयुर्वेद में बताया गया है। प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध में आयुर्वेद में वर्णित विविध रोगों, उनके लक्षणों एवं निवराण आदि का विशद् रूप से उल्लेख करना असम्भव है, अतएव उसके आधार पर केवल 'पञ्चज्ञानेन्द्रिय रोग एवं उनका निदान' (भावप्रकाश के विशेष सन्दर्भ में) विवेचित किया गया है।

इस लघु शोध-प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय में 'आयुर्वेद का सामान्य ज्ञान एवं भावमित्र का परिचय' प्रतिपादित किया गया है।

द्वितीय अध्याय – 'श्रोत्र रोग एवं निदान' – में शरीर में श्रोत्र इन्द्रिय का स्थान और श्रोत्र के तीन भागों – बाह्यश्रोत्र, मध्यश्रोत्र और अन्तःस्थश्रोत्र – को प्रतिपादित किया गया है। कर्ण रोग के कारणों में जलवायु के विरुद्ध अन्नपान करना, मूत्रादि के वेगों को रोकना, अधिक बोलना, अधिक व्यायाम करना, तिनके आदि से कान को खुजलाने से कर्ण रोग होना बताया गया है। कर्ण रोग के 28 प्रकारों एवं उनके लक्षणों के साथ-साथ चिकित्सा का भी वर्णन किया गया है। श्रोत्र को स्वस्थ रखने के घरलू उपचारों में लहसुन, प्याज़ आदि के विषय में बताया गया है।

'त्वक् रोग एवं निदान' नामक तृतीय अध्याय में शरीर में त्वक् इन्द्रिय के स्थान का महत्त्व बताया गया है। त्वक् रोग के विभिन्न कारणों का भी उल्लेख किया गया है। भावमित्र ने 'भावप्रकाश' में अठारह प्रकार के चर्म रोग – कपाल, औदुम्बर, मण्डल, सिध्म, काकण, पुण्डरीक, जिह्वक, एककुष्ठ, गजचर्म, चर्मदल,

विचर्चिका, पापा, कच्छू, दद्रु, विस्फोट, किटिभ, अलसक और शतारू — बतलाये गये हैं। जिसमें 1–7 महाकुष्ठ और 11–18 तक शुद्रकुष्ठ है। त्वक् रोग के लक्षण, चिकित्सा एवं उसको स्वस्थ रखने के लिये घरेलू उपचारों को भी भली–भाँति प्रतिपादित किया गया है।

चतुर्थ अध्यार्य –- 'चक्षु रोग एवं निदान' का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में चक्षु इन्द्रिय का महत्त्व दर्शाया गया है। मानव शरीर में चक्षुओं के मुख्य कारणों में जीवाणु, विषाणु और कवक कारक तत्त्व बतलाये गये हैं। इसके साथ ही दृष्टि को दूर की वस्तु देखने से, नींद न आना, लगातार आँसू बहाना, खट्टा, बासी आदि खाने के कारणों से चक्षु रोग होते हैं। चक्षु के आकार में पाँच मण्डल — पक्ष्मण्डल, वर्त्मण्डल, श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल और दृष्टिमण्डल — होते हैं। इसमें चक्षु के लक्षण, चिकित्सा और घरेलू उपचारों को वर्णित किया गया है।

पञ्चम अध्याय — 'रसना रोग एवं निदान' में मुख में रसना इन्द्रिय का महत्त्व और उसकी बनावट का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही जिह्वा पर छः प्रकार के लाभ और हानियों का भी निरूपण किया गया है। रसना पर पाँच प्रकार के रोगों — वातज, पित्तज, कफज, अलास और उपजिह्विका — का भी उल्लेख किया गया है। इसी अध्याय में भी इन रोगों से निदान पाने के लिये उनके लक्षण एवं चिकित्सा को बतलाया गया है। साथ ही दातुन, जिम्भी आदि घरेलू उपचारों से रसना को स्वस्थ रखने का वर्णन किया गया है।

'घ्राण रोग एवं निदान' — नामक षष्ठ अध्याय में शरीर में घ्राण इन्द्रिय का स्थान एवं उसके कार्यों को दर्शाया गया है। इसमें घ्राण रोगों के प्रकार, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है। घ्राण को स्वस्थ रखने के घरेलू उपचार है और घ्राण रोग से बचने के लिये विभिन्न प्रकार की सावधानियाँ बताई गई हैं।

ग्रंथ-सूची

ग्रन्थ–सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण/वर्ष
1.	अभिनव बूटीदर्पण (भाग 1–2)	श्री रूपलाल जी वैश्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस वाराणसी	चतुर्थ 1999
2.	अष्टाङ्गसंग्रह	अत्रिदेवगुप्त	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस वाराणसी	—
3.	अष्टाङ्गहृदय	श्रीमद्वाग्भट	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	—
4.	आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास	आचार्य प्रियव्रत शर्मा	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी	द्वितीय 1981
5.	आयुर्वेद का बृहत् इतिहास	अत्रिदेव विद्यालंकार	सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश	प्रथम 1960
6.	आयुर्वेद दर्शन	आचार्य राजकुमार जैन	प्राणावाय (जैनायुर्वेद) शोध संस्थान	तृतीय 1997
7.	आयुर्वेद परिचय	राजकुमार जैन	अनेकान्त साहित्य शोध संस्थान, वाराणसी	प्रथम 1978
8.	औषध दर्शन	वैद्यराज आचार्य	दिव्य प्रकाशन, दिव्य योग मन्दिर (ट्रस्ट) हरिद्वार (कनखल)	प्रथम 2004
9.	गदनिग्रह	श्री गंगासहाय पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस वाराणसी	चतुर्थ 1999
10.	चक्रदत्त	श्री चक्रपाणिदत्त	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस वाराणसी	तृतीय सं. 2017

11.	चरकसंहिता	जयदेव विद्यालंकारेण	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	तृतीय 1975
12.	चरकसंहिता (पूर्व भाग)	महर्षिणाभगवताग्निवेशेन	मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर दिल्ली	नवम् 1975
13.	चिकित्सा चन्द्रोदय (भाग–2)	श्री बाबू हरिदास वैद्य	हरिदास एण्ड कम्पनी, प्राइवेट लिमिटेड	अष्टादशम् 2003
14.	नेत्र रक्षा	डॉ. धीरेन गाला	नवीन पब्लिकेशन्स दंताली गुजरात	—
15.	नेत्ररोग चिकित्सा	डॉ. प्रिय कुमार चौबे	कृष्णदास अकादमी, वाराणसी	प्रथम वि.सं. 2056
16.	भावप्रकाश (उत्तर भाग)	श्री भावमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी	तृतीय वि.सं. 2098
17.	भावप्रकाश (पूर्व भाग)	अमृतसारिया रामभणोत	राज पब्लिशर्ज (रजि.) होशियारपुर	प्रथम 1963
18.	भावप्रकाश निघण्टु	श्री गंगासहय पाण्डेय	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	प्रथम वि.सं. 2017
19.	भैषज्यरत्नावली	श्री अम्बिकादत्त शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस वाराणसी	तृतीय वि.सं. 2026
20.	माधवनिदान (उत्तर भाग)	श्री माधवकर	मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता, लाहौर	1994
21.	माधवनिदान (पूर्वार्द्ध)	श्री माधवकर	मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता, लाहौर	1994
22.	मानव शरीर की रचना	—	—	—

23.	योग और आयुर्वेद	आचार्य राजकुमार जैन	प्राणावाय (जैनायुर्वेद), शोध संस्थान, दिल्ली	तृतीय 1997
24.	योगरत्नाकर	पं. सदाशिवशास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी	1939
25.	रोगविनिश्चर्य	डॉ. शिवचरण ध्यानी	चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी	प्रथम 1990
26.	वनोषधि चन्द्रोदय	श्री चन्द्रराज भण्डारी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी	चतुर्थ वि.सं. 2096
27.	शार्ङ्गधरसंहिता	पं. शार्ङ्गधराचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस बनारस सिटी	चतुर्थ 1996
28.	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1994
29.	संस्कृत साहित्य का इतिहास,	वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	प्रथम वि.सं. 2017
30.	सुश्रुत संहिता	अम्बिकादत्त शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी	सं. 2030
31.	हिन्दी विश्वकोष (भाग 11)	नगेन्द्रनाथ बसु	बी.आर. पब्लिश	–
32.	हिन्दी विश्वकोष (भाग 19)	नगेन्द्रनाथ बसु	बी.आर. पब्लिश	–